

क

कमला देवी चट्टोपाध्याय

(Kamla Devi Chattopadhyay)

नारीवादी स्वाधीनता सेनानी कमला देवी चट्टोपाध्याय (1903-1988) ने आज़ादी के बाद बड़े संवैधानिक पदों पर काम करने के बजाय भारत में परम्परागत शिल्पकला के पुनरुद्धार का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्यभार उठाया। उन्होंने विलुप्ति के कगार पर पहुँच चुकी भारतीय हस्तकला और शिल्पकारी को अपने दम पर पुनर्जीवित किया और सेंट्रल कर्टेज इंडस्ट्रीज़ इम्पोरियम की स्थापना की ताकि देश के विभिन्न भागों से हस्तशिल्प की कृतियाँ एकत्रित करके सामान्य उपभोक्ताओं तक पहुँचायी जा सकें। इस संस्थान में प्रशिक्षण और पाठ्यक्रम द्वारा कारीगरों, बुनकरों और शिल्पकारों को स्थानीय परम्पराओं के साथ नये कौशल भी सिखाये जाते हैं। स्वदेशी वस्तुओं और भारतीय दस्तकारों के लिए स्वतंत्र भारत में गाँधी के बाद कमला देवी ही सबसे बड़ी संरक्षक बनकर खड़ी हुईं। कमला देवी की स्वदेशी के लिए यह प्रतिबद्धता उनके नारीवादी सोच से भी जुड़ी हुई थी। वे जानती थीं कि परम्परागत भारतीय शिल्पकला एक असंगठित क्षेत्र है और इसमें काम करने वाली ज्यादातर महिलाएँ ही हैं। स्वतंत्र भारत में बड़े पैमाने पर लागू की गयी उत्पादन की पश्चिमी प्रणाली का सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव इन्हीं महिलाओं पर पड़ेगा। कमला देवी एक कला-मर्मज्ञ भी थीं। उन्होंने 1964 में बंगलौर में कथक और कोरियोग्राफी नाट्य संस्थान की स्थापना की ताकि भारत की पारम्परिक नृत्य शैली को आधुनिक शिक्षण तकनीक के साथ सिखाया जा सके। कमला देवी ने भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच स्थापित किया जिसका



कमला देवी चट्टोपाध्याय (1903-1988)

उद्देश्य आम लोगों को नाट्य कला के बारे में शिक्षित करना, उन्हें अच्छे संस्कार देना और देश की सांस्कृतिक विरासत को पुनर्जीवित करना था।

कमला देवी उस समय नारीवाद की प्रवक्ता थीं जब भारत में इसके बारे में कहीं चर्चा भी नहीं होती थी। एक नारीवादी स्वतंत्रता सेनानी के रूप में उन्होंने अदम्य साहस दिखाया और स्त्री-अधिकारों के सवाल पर मोतीलाल नेहरू, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और गाँधी से भी टक्कर ली। 1930 के नमक सत्याग्रह में पहले गाँधी महिलाओं को शामिल करने के पक्ष में नहीं थे, लेकिन बाद में बम्बई समुद्र तट पर नमक बनाने के लिए चुनी गयी दो महिलाओं में से एक कमला देवी थीं। छोटे-छोटे पैकेटों में एकत्रित नमक के कुछ पैकेट लेकर कमला देवी बम्बई शेयर बाज़ार पहुँचीं और सत्याग्रह के लिए धन इकट्ठा करने के लिए इन पैकेटों को सबसे ऊँची बोली पर नीलाम कर दिया। इसके बाद कमला देवी उच्च न्यायालय परिसर पहुँचीं और एक भौचक्के न्यायाधीश से पूछा कि क्या

वे इस आज़ाद नमक को खरीदना चाहेंगे? दुस्साहसी कमला देवी नमक सत्याग्रह में जेल जाने वाली पहली भारतीय महिला थीं।

1924 के बेलगाम कांग्रेस अधिवेशन में कमला देवी एक स्वयंसेवक की भूमिका में शामिल हुईं जहाँ इनका काम अधिवेशन स्थल की व्यवस्था में सहयोग देना था। महिलाओं के मताधिकार की सबसे बड़ी पैरोकार मार्गरेट कजिंस के सहयोग से 1926 में मद्रास राज्य विधान सभा निर्वाचन के लिए परचा दाखिल करने के साथ ही कमला देवी चुनावी राजनीति में उतरने वाली पहली भारतीय महिला बनीं, हालाँकि वे बेहद मामूली अंतर से यह चुनाव हार गयीं। 1927 में पुणे में आयोजित शैक्षिक सुधार पर अखिल भारतीय महिला सम्मेलन के महासचिव की जिम्मेदारी कमला देवी को सौंपी गयी यही सम्मलेन बाद में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन के रूप में स्थापित हुआ। सम्मेलन में कमला देवी और उनके सहयोगियों ने बाल विवाह की रोकथाम के लिए शारदा अधिनियम की खामियों को खत्म करने के प्रयास किये। अपने सचिव पद के उत्तरदायित्व को निभाने के लिए कमला देवी ने लेखन और टाइपिंग में दक्षता हासिल की और स्त्री कामगारों की मुश्किलों, स्त्री शिक्षा की अड़चनों को देखने-समझने के लिए भारत के अनेक दुर्गम स्थानों की यात्राएँ कीं। कमला देवी ने महिलाओं के अधिकारों के लिए वैधानिक परिवर्तनों की माँग रखी। आज भले ही इन अधिकारों पर काफ़ी चर्चा हो चुकी हो, पर कमला देवी द्वारा की गयी स्त्री-अधिकारों की दावेदारी उस ज़माने के लिहाज़ से ख़ासी रैडिकल थी, जैसे मातृत्व-अवकाश का अधिकार, कामकाजी महिलाओं के लिए बच्चों की देखभाल की व्यवस्था और महिलाओं के अवैतनिक घरेलू श्रम को एक आर्थिक गतिविधि के रूप में देखना। महिलाओं की शिक्षा को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए उन्होंने एक संस्था स्थापित की जो आज नयी दिल्ली का प्रतिष्ठित लेडी इरविन कॉलेज है। 1936 में कमला देवी चट्टोपाध्याय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की अध्यक्ष बनीं और डॉ. राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण और मीनू मसानी जैसे दिग्गजों के साथ कंधा से कंधा मिला कर काम किया।

स्वतंत्रता के बाद कमला देवी ने बँटवारे के बाद दिल्ली के कुतुब मीनार इलाक़े में पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के लिए भारतीय सहकारी संघ स्थापित किया जिसके माध्यम से इन शरणार्थियों ने कुतुब मीनार के आसपास छतरपुर-जैतपुर इलाक़े में अपने रहने के लिए घर बनाये। इसी तरह दिल्ली के आसपास पचास हजार शरणार्थियों को बसाने के लिए कमला देवी और भारतीय सहकारी संघ ने मिल कर फ़रीदाबाद औद्योगिक शहर बसाया। कमला देवी ने इस शहर के निर्माण में योगदान देने वाले अधिकतर कामगार-मिस्त्री

इन्हीं शरणार्थियों में से ढूँढे थे ताकि इन लोगों को लाभदायक काम मिल सके और रहने के लिए मकान भी बन जाएँ। इस शहर के उद्घाटन के अवसर पर प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि क्या ही अच्छा हो यदि सारा भारत ही इस तरह के सहकारी संघों का एक गणराज्य बन जाए।

भारत की पारम्परिक हस्तकला व शिल्प के पुनरुत्थान में कमला देवी का सबसे बड़ा योगदान है देश में हाथ से काम करने वाले हर मामूली कारीगर को एक विशेषज्ञ शिल्पकार बनने का अवसर देना। स्वतंत्र भारत के हैंडलूम बोर्ड की अध्यक्ष के रूप में उन्होंने लुप्तप्राय हस्तशिल्प की कला और अस्तित्व का संकट झेल रहे कलाकारों को बचाने के लिए एक राष्ट्रीय अभियान चलाया। अपनी इस मुहिम के अंतर्गत कमला देवी ने सुदूर क्षेत्रों के निवासियों और दूरस्थ आदिवासियों को ढूँढने, उनकी जानकारी एकत्रित करने, उनके शिल्प से संबंधित परेशानियों को समझने और उनकी पूरी जीवन-शैली को देखने के लिए दुर्गम स्थानों की यात्राएँ कीं। कमला देवी ने पारम्परिक कला के शिल्पकारों से साझेदारी की, उन्हें प्रशिक्षण योजनाओं में शामिल किया, उनमें समूहों के गठन द्वारा समुदाय की भावना पैदा की और प्रदर्शनी, मेला, सांस्कृतिक सम्मेलनों द्वारा इस शिल्पकला को निर्यात के नये बाज़ार उपलब्ध कराये। सहकारी समितियों की व्यवस्था की एक समर्थक के रूप में कमला देवी ने भारतीय शिल्पकला में भी सहकारिता आंदोलन का समावेश किया। भारतीय हस्तशिल्प की मूल महिमा को पुनर्जीवित करने और उसके उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार लाने पर उन्होंने सबसे ज़्यादा ध्यान केंद्रित किया ताकि इस शिल्प की प्राचीन शुद्धता के साथ छेड़छाड़ के बिना ही उसे एक आधुनिक-समकालीन रूप दिया जा सके।

1903 में एक समृद्ध परिवार में जन्मी कमला को अपने बचपन में ही लिंगभेद के कड़वे सबक सीखने को मिले। अपने पिता की मृत्यु के बाद उन्हें व उनकी माँ को उनकी पैतृक-वैवाहिक सम्पत्ति से बेदखल कर दिया गया। उनके पिता के पहले विवाह से हुए पुत्र सारी सम्पत्ति के एकमात्र स्वामी सिर्फ़ इसलिए बने क्योंकि वे पुरुष थे और औरतों को पैतृक-वैवाहिक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं था। कमला देवी की माँ अपने समय की एक बड़ी नारीवादी थीं। विधवा होने के कारण लगी सामाजिक बंदिशों के बावजूद वे एक श्रोता के रूप में संगीत, गायन, भजन के कार्यक्रमों में देर शाम तक सम्मिलित होती थीं, अपने आप से हाट-बाज़ार का काम करती थीं। अपने इलाक़े में उन्होंने एक महिला सभा नामक संस्था बनायी थी जिसमें महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया जाता था। सम्भ्रांत परिवारों में संगीत शिक्षा के पूर्ण निषेध के बावजूद उन्होंने कमला देवी को कर्नाटक, हिंदुस्तानी और पाश्चात्य संगीत शैली की शिक्षा

दिलायी थी। कमला देवी को उनकी माँ ने एनी बेसेंट और पण्डिता रमाबाई जैसा बनने की प्रेरणा दी।

कमला देवी एक प्रतिभाशाली छात्रा थीं। अपनी स्कूली शिक्षा के दौरान ही उन्होंने केरल की संस्कृत नाटक परम्परा की शिक्षा गुरु माणि माधव चाक्यार से अर्जित की। मात्र 14 साल की उम्र में उनका बाल विवाह हुआ और केवल दो साल बाद वे बाल विधवा हो गयीं। लेकिन रूढ़िवादी नियमों को धता बताते हुए कमला देवी ने चेन्नई में अपनी शिक्षा जारी रखी। बाद में उन्होंने एक प्रसिद्ध कवि, लेखक, अभिनेता और सरोजिनी नायडू के भाई हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय से पुनर्विवाह किया। इस विवाह के बाद कमला देवी ने लंदन के बेडफ़र्ड कॉलेज से समाजशास्त्र में डिप्लोमा हासिल किया। कुछ वर्षों बाद कमला देवी और हरिन के दाम्पत्य जीवन में बिखराव आ गया तो कमला देवी ने उस समय के सामाजिक परिवेश में असाधारण साहस दिखाते हुए अपनी ओर से तलाक़ के लिए कार्रवाई शुरू की। उनके हर काम में सबसे ज़्यादा जोर सौंदर्यमूलक पहलुओं पर था, फिर चाहे वह अलंकृत स्तम्भ की नक्काशियों का वर्णन हो या चक्करदार दक्षिण भारतीय नमकीन मुरुक्कू का।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, जय प्रकाश नारायण, जवाहरलाल नेहरू, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, दुर्गाबाई देशमुख, राम मनोहर लोहिया, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. जसलीन धमीजा (2007), *कमला देवी चट्टोपाध्याय*, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली
2. शकुंतला नरसिम्हन (1999), *कमला देवी चट्टोपाध्याय : द रोमांटिक रिबेल*, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली.
3. जमीला बृजभूषण (1976), *कमला देवी चट्टोपाध्याय : अ बायोग्राफ़ी*, अभिनव पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
4. कमला देवी चट्टोपाध्याय (1986), *इनर रिसैसिस, आउटर स्पेसस : मेमोइर्स*, नवरंग, नयी दिल्ली.

— रवि दत्त वाजपेयी

कला सिनेमा/अवाँगार्द/ प्रति-सिनेमा

(Art Cinema/Avant-garde/
Counter-cinema)

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में युरोप की प्रयोगधर्मी फ़िल्मों को कला सिनेमा की संज्ञा दी गयी थी। तकनीक और कथानक के संदर्भ में स्थापित मान्यताओं और फ़िल्म-रचना की विधियों को चुनौती देने वाली ये फ़िल्में मुख्यतः छोटे और मँझोले बजट की हुआ करती थीं। इन्हें बनाने में फ़िल्म माध्यम के गम्भीर अध्येताओं, समीक्षकों और लेखकों की प्रमुख भूमिका थी। फ्रांस और जर्मनी में आयी सिनेमा की इस नयी लहर के पीछे सरकार द्वारा दी गयी आर्थिक मदद थी। अमेरिका में अंडरग्राउंड सिनेमा के नाम से चिह्नित की गयी ऐसी ही फ़िल्मों में खुद उनके फ़िल्मकारों का पैसा लगा था। आगे चल कर नारीवादी फ़िल्मकारों ने भी अपने निजी प्रयासों से फ़िल्में बना कर कला सिनेमा आंदोलन में उल्लेखनीय हस्तक्षेप किया।

सिनेमा का यह रूप फ्रांसीसी अवाँगार्द आंदोलन के व्यवस्था-विरोधी तेवर से काफ़ी प्रभावित हुआ। फ्रेंच शब्द अवाँगार्द का मतलब था वेंगार्ड या हरावल दस्ता। ये फ़िल्मकार परम्परा से द्रोह को मूल्य के रूप में ग्रहण करते थे। उनकी कोशिश अपने प्रयासों के सुचिंतित राजनीतीकरण की थी। तीस के दशक में उभरे फ्रांसीसी और इतालवी यथार्थवादी सिनेमा के प्रभाव में कला सिनेमा ने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थ के निरूपण को भी अपने दायरे में ले लिया। पचास के दशक में 'ऑतर' (ऑथर) की अवधारणा उभरी। इसके तहत दावा किया गया कि कला सिनेमा के फ़िल्मकारों का अपनी फ़िल्मों से संबंध महज़ निर्माता का न हो कर रचनाकार या लेखक का है। कला सिनेमा की इस लहर ने सारी दुनिया में फ़िल्मकारों की एक नयी पीढ़ी को जन्म दिया। जापानी, भारतीय, ऑस्ट्रेलियायी, कनाडियन और लातीनी अमेरिकी फ़िल्मकारों ने अपने योगदान से इसे समृद्ध किया।

प्रति-सिनेमा आंदोलन का मक़सद भी कला सिनेमा या अवाँगार्द आंदोलन की तरह फ़िल्म निर्माण की संहिताओं को प्रश्नांकित करते हुए उनके उल्लंघन का था। सत्तर के दशक में प्रचलित हुए फ़िल्म-रचना के इस मुहावरे ने कथानक, संरचना और पद्धति के मामले में हॉलीवुड के वर्चस्व को चुनौती दी। इस आंदोलन में भाग लेते हुए स्त्री-फ़िल्मकारों ने शिश्न-सत्ता स्थापित करने वाले स्त्री-देह के

वस्तुपूजक निरूपण की दर्शनीयता और ग्राहकता को खारिज किया। इन फ़िल्मकारों ने स्त्री की आत्मपरकता और इयत्ता पर रोशनी डालते हुए उसकी भिन्नता की पैरोकारी की।

कला सिनेमा का पहला रूप 1908 में रंगमंच के फ़िल्मांकन के साथ सामने आया। इन रंग-प्रदर्शनों के साथ विख्यात संगीतकारों की रचनाएँ भी जुड़ी हुई थीं। यह प्रयास व्यावसायिक सिनेमा से अलग तो था, लेकिन इसके जरिये सिनेमा की स्वायत्त भाषा की रचना सम्भव नहीं लग रही थी। पर बीस के दशक में यही प्रवृत्ति विकसित हो कर हॉलीवुड और युरोपीय सिनेमा के मिले-जुले प्रभावों की कृति के रूप में सामने आयी। इसने सिनेमा की जाँची-परखी विधियों को अपनाने से इनकार करते हुए कार्य-कारण तर्ज पर चलने वाले प्रवाहपूर्ण कथानक से अपना संबंध तोड़ लिया। व्यावसायिक सिनेमा के किरदार जहाँ अपने लक्ष्यों, महत्वाकांक्षाओं और व्यवहार-शैली को लेकर आत्मविश्वस्त नज़र आते थे, वहाँ कला सिनेमा के पात्र अपनी कामनाओं के प्रति हिचक और संकोच से भरे हुए थे। ये फ़िल्में नायकों से वंचित थीं और यह उनका एक उल्लेखनीय लक्षण था। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद की मदद से इनके पात्रों का दृष्टिकोण निरूपित होता था। इस प्रक्रिया में दर्शकों को लगता था कि स्क्रीन पर मौजूद चरित्र आंतरिक एकालाप में संलग्न है। कला सिनेमा के रचनाकारों का दावा था कि ऐसा करके वे दर्शक को एक चिंतनपरक दायरे में जाने का मौक़ा देते हैं। अपने निरूपणों से दर्शकों को पूरी तरह बाँधने में यत्न करने वाले व्यावसायिक सिनेमा के विपरीत कला सिनेमा के हाथों एक ऐसी स्क्रीन तैयार हुई जिसके और दर्शक के बीच में एक फ़ासला था। परिणामस्वरूप फ़िल्म के संदर्भ में रची गयी उसकी इयत्ता को एक आलोचनात्मक स्पेस मिलने की सम्भावना पैदा हुई।

कला सिनेमा की एक विशिष्ट पहचान उसकी श्रृंगारिकता भी थी। बीस के दशक से ही वह यौनिक कामनाओं और नग्नता के निरूपण में दिलचस्पी दिखा रहा था। 1934 से 1968 के बीच अमेरिकी सेंसरशिप के दौर में तो कला सिनेमा दर्शकों के बीच सेक्स-फ़िल्मों के रूप में ही ग्रहण किया गया। अमेरिका को अपनी कला फ़िल्में निर्यात करने के लोभ ने भी इन फ़िल्मों में सेक्स की मात्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति पैदा की। ऐसा ही एक चर्चित प्रकरण वह है जब 1963 में बनी ज़्याँ लुक गोदार की कृति *ल मेप्रिस* पूरी हो जाने के बाद उसके दो निर्माताओं ने निर्देशक से आग्रह किया कि वे अपनी 'सेक्सी' नायिका ब्रीजी बारदो के कुछ अतिरिक्त नग्न दृश्य फ़िल्म में डाल दें। गोदार ने ऐसा ही किया, पर नग्न दृश्यों को फ़िल्माने की उनकी तकनीक कुछ ऐसी थी कि उनका प्रभाव दर्शकों की कामोत्तेजा को स्पर्श करने वाला नहीं था। गोदार की कला ने बारदो की सुंदर देह

को इस तरह दिखाया कि वे दृश्य कारुणिक और त्रासद बन गये।

फ़्रांस में अवाँगार्द आंदोलन की शुरुआत प्रथम विश्व-युद्ध के रक्तपात और अमानवीयता की प्रतिक्रियास्वरूप मानी जाती है। इसके ऊपर चित्रकला के संसार में पनपे आधुनिकतावादी आंदोलनों (घनवाद, भविष्यवाद, दादावाद, संरचनावाद और अतियथार्थवाद) का भारी प्रभाव था। बीस के दशक में लुई दलक, जरमेन दुलक और ज्यॉँ एपस्तीन जैसे फ़िल्म समीक्षकों ने फ़िल्म-निर्देशन में हाथ आजमाने का फ़ैसला किया। प्रयोगधर्मिता से लबालब इन लोगों की सैद्धांतिक दृष्टि अलग-अलग थी, लेकिन उन्होंने अपनी रचनाशीलता से उच्च और लोकप्रिय कला से संबंधित मुद्दों को सम्बोधित किया। इन फ़िल्मकारों ने यथार्थवादी बनाम प्रकृतिवादी फ़िल्मों की बहस चलायी और दर्शक-स्क्रीन के रिश्ते को नये सिरे से परिभाषित करने की कोशिश की। अवाँगार्द फ़िल्मकार सोवियत संघ के फ़िल्मकारों द्वारा अपनायी गयी मोंटाज शैली के सम्पादन और विशिष्ट प्रकाश-संयोजन से भी प्रभावित थे। इसके अलावा उन्होंने समक्षणिकता, आत्मपरकता और अवचेतन जैसे आयामों को छूते हुए फ़िल्म-माध्यम की मनोवैश्लेषिक सम्भावनाओं को उजागर किया। उन्होंने फ़िल्म-शैलियों को नये रूपों में ढाला, फ़िल्म-भाषा की सम्भवनाओं का संधान किया और आत्मपरकता के निरूपण को नयी परिभाषा दी। अवाँगार्द सिनेमा ने मुख्यधारा के व्यावसायिक सिनेमा और प्रति-सिनेमा के मुहावरे से जोड़ने के प्रयोग किये। उसने सामाजिक यथार्थवाद और अतिनाटकीयता का समीकरण तैयार किया।

प्रति-सिनेमा चूँकि हॉलीवुड द्वारा स्थापित फ़िल्म-निर्माण की मान्यताओं की आलोचना करते हुए विकसित हुआ था, इसलिए उसने घोर रूपवादी और भौतिकवादी रवैया अपनाने में भी संकोच नहीं किया। इस आंदोलन के फलस्वरूप सामने आयी कृतियों में दर्ज कथानक अपनी निरंतरता के अभाव के लिए जाना गया। इन फ़िल्मों की कथा-योजना में न तो कोई शुरुआत थी, न बीच का हिस्सा और न ही उनका कोई क्लाइमैक्स था। हालाँकि इस सिनेमा की बुनियादी प्रवृत्तियाँ कला सिनेमा और अवाँगार्द सिनेमा के पहले से चले आ रहे बुनियादी रवैये का ही अंग थीं, लेकिन इसे अपना निजी स्वर सत्तर के दशक में गोदार और वाज़्दा जैसे फ़िल्मकारों की कृतियों के जरिये मिला। इसके बाद नारीवादी फ़िल्मकारों ने स्त्री को पुरुष की निगाह के लक्ष्य के रूप में निरूपित करने का विरोध करके इस सिनेमा में विशिष्ट योगदान किया।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति,

नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. पी. गिडाल (1981), *मैटरियलिस्ट फ़िल्म*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. डी. ऐंडरू (1984), *कंसेप्ट्स इन फ़िल्म थियरी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.
3. ई.ए. काप्लान (1983), *वूमन ऐंड फ़िल्म : बोथ साइड्स ऑफ़ द कैमरा*, मेथ्युन, न्यूयॉर्क और लंदन.
4. सी. जॉस्टन (1976), 'वूमन सिनेमा एज़ काउंटरसिनेमा', संकलित : बी. निकोल्स (सम्पा.), *मूवीज़ ऐंड मेथड्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

— अभय कुमार दुबे



कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (1887-1971)

सर्वाधिक ध्यान दिया है।

गुजरात राज्य के भरूच में जन्मे कन्हैयालाल की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी माँ के धार्मिक गीतों और कथाओं से हुई। बड़ौदा में अपनी महाविद्यालयी शिक्षा के दौरान कन्हैयालाल मुंशी को अध्यापक के रूप में अरविंद घोष (महर्षि अरविंद) का सान्निध्य मिला। इस सम्पर्क से मुंशी के मन में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध हथियारबंद विद्रोह का संकल्प जगा। साथ ही इसी सम्पर्क ने मुंशी के हृदय में भारत की गौरवशाली सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक धरोहर के प्रति अगाध श्रद्धा भी भर दी। 1910 में मुंशी ने बम्बई विश्वविद्यालय से एलएलबी की उपाधि प्राप्त की और वकालत शुरू करने के बाद बहुत कम समय में ही बम्बई उच्च न्यायालय के प्रमुख वकीलों में से एक बन गये। हिंदू क्रानून पर मुंशी को असाधारण महारत थी क्योंकि उन्होंने यह ज्ञान केवल क्रानूनी किताबों से नहीं बल्कि मिताक्षर व धर्मशास्त्रों के गम्भीर व तर्कसंगत अध्ययन से प्राप्त किया था।

भारत की स्वाधीनता के लिए आतुर कन्हैयालाल मुंशी पहले विश्व-युद्ध के दौरान एनी बेसेंट के होम रूल आंदोलन से जुड़ गये लेकिन बाद में गाँधी के सम्पर्क में आने पर उन्होंने कांग्रेस का साथ देने का फैसला किया। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में 1928 के बारदोली सत्याग्रह में मुंशी जी ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। इसी प्रकार 1930 के नमक सत्याग्रह में मुंशी ने सपत्नीक भागीदारी की। नमक सत्याग्रह में भागीदारी के चलते उन्हें छह महीने का कारावास

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

(Kanhaiyalal Maniklal Munshi)

बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (1887-1971) क्रानूनविद, स्वाधीनता-सेनानी, भाषाविद, साहित्यकार, सम्पादक, कुशल प्रशासक, शिक्षाविद और संविधान निर्माता होने के साथ ही भारतीय ज्ञान, दर्शन और परम्परा के मर्मज्ञ भी थे। मुंशी ने अपने जीवन काल में विभिन्न क्षेत्रों में कई उत्कृष्ट संस्थानों की स्थापना करके राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में उल्लेखनीय योगदान किया। स्वाधीनता से लगभग दस साल पहले नवम्बर, 1938 में उन्होंने भारतीय विद्या भवन की स्थापना की ताकि भारत के वर्तमान तथा भविष्य को भारत के सांस्कृतिक और वैचारिक पुनर्जागरण से संजोया जा सके। 1938 में मुंशी और उनके तीन मित्रों द्वारा दिये गये 250 रुपये प्रति वर्ष के योगदान से स्थापित भारतीय विद्या भवन के आज सारे विश्व में लगभग 120 केंद्र और इनसे जुड़े हुए 350 से अधिक शैक्षणिक संस्थान हैं। भवन से संबंधित कई संस्थानों में इंजीनियरिंग, सूचना प्रौद्योगिकी, मैनेजमेंट, संचार व पत्रकारिता, विज्ञान, कला व वाणिज्य की पढ़ाई की व्यवस्था है। लेकिन इन सबसे ऊपर भवन ने भारतीय विद्या के अध्ययन-अध्यापन पर

भी भुगतना पड़ा। 1931 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने के दण्डस्वरूप मुंशी को दो साल की सजा सुनायी गयी। 1937 में कन्हैयालाल मुंशी को तत्कालीन बॉम्बे प्रेसीडेंसी की पहली निर्वाचित सरकार में मंत्री पद पर नियुक्त किया गया। हालाँकि उनकी व्यक्तिगत पसंद कानून व शिक्षा मंत्रालय थी, लेकिन उन्हें गृह मंत्रालय जैसे महत्त्वपूर्ण विभाग का उत्तरदायित्व सौंपा गया। यह उस दौर की बात है जब अंग्रेज़ी हुकूमत भारतीयों को स्वशासन के लिए पूर्णतः अक्षम मानती थी। विशेषकर साम्प्रदायिक मसलों पर वह भारतीयों को विफल देखना चाहती थी। लेकिन मुंशी ने अपने गृहमंत्री के कार्यकाल में कार्यकुशलता, निष्पक्षता व न्यायप्रियता का नमूना पेश किया।

स्वतंत्र भारत के लिए नये संविधान-निर्माण के रचयिताओं में आदर्शवाद व यथार्थवाद के मिश्रण की आवश्यकता थी। राजनीतिक अंतर्दृष्टि और कुशाग्र कानूनी बुद्धि से परिपूर्ण कन्हैयालाल मुंशी इस कार्य में सबसे दक्ष माने गये। संविधान-निर्माण के लिए बनायी गयी समितियों में से मुंशी सबसे ज्यादा ग्यारह समितियों के सदस्य बनाये गये। डा. भीमराव आम्बेडकर की अध्यक्षता में बनायी गयी संविधान निर्माण की प्रारूप समिति में कानून में 'हर व्यक्ति को समान संरक्षण' के सिद्धांत का मसविदा मुंशी और आम्बेडकर ने संयुक्त रूप से लिखा था। इसी प्रकार कई अड़चनों और व्यवधानों के बावजूद हिंदी तथा देवनागरी लिपि को नये भारतीय संघ की राजभाषा का स्थान दिलाने में मुंशी ने सबसे प्रमुख भूमिका निभायी। 14 सितम्बर, 1949 को संविधान सभा के इस निर्णय को प्रति वर्ष हिंदी दिवस के रूप में मनाया जाता है। संविधान-निर्माण में मुंशी का सबसे ज्यादा ध्यान एक मज़बूत केंद्र के अंतर्गत संघीय प्रणाली विकसित करना था, देसी रियासतों के भारत में विलय की मुश्किलों के संदर्भ में और असंख्य विविधताओं वाले इस नव-स्वतंत्र राष्ट्र में मुंशी सहित अन्य संविधान-निर्माताओं ने एक मज़बूत केंद्रीय सरकार को अपरिहार्य माना। कन्हैयालाल मुंशी के लिए भारतीय संविधान की पहली पंक्ति 'इण्डिया दैट इज़ भारत' वाक्यांश का अर्थ केवल एक भूभाग नहीं बल्कि एक अंतहीन सभ्यता है, ऐसी सभ्यता जो अपने आत्म-नवीनीकरण के ज़रिये सदैव जीवित रहती है।

1947 में हैदराबाद के निज़ाम ने अपनी रियासत को स्वतंत्र राष्ट्र की मान्यता देने की माँग की तो इस समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने मुंशी को हैदराबाद में भारत सरकार का प्रतिनिधि (एजेंट जनरल) नियुक्त किया। हैदराबाद राज्य के भारत में विलय के बाद तत्कालीन गृह मंत्री सरदार पटेल ने इस अभियान में मुंशी की अहम भूमिका की बहुत प्रशंसा की। अपने इस दुरूह कार्य को सम्पन्न करने के बाद मुंशी ने इस पर अपने संस्मरण *द ऐंड ऑफ़ ऐन इरा*

(हैदराबाद मेमोइर्स) नामक एक पुस्तक भी लिखी। डॉ. राजेंद्र प्रसाद के राष्ट्रपति चुने जाने के बाद मुंशी केंद्रीय मंत्रिमण्डल में उनके स्थान पर कृषि व खाद्य मंत्री बने। इसी दौरान उन्होंने पर्यावरण तथा वानिकी के संरक्षण के लिए कई कारगर प्रयास आरम्भ किये। हर वर्ष जुलाई में आयोजित वन महोत्सव मुंशी के उन्हीं प्रयासों की ही देन है। स्वतंत्र भारत में सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण भी मुंशी के एजेंडे पर था। उनकी इस सक्रियता के कारण प्रधान मंत्री नेहरू ने एक कैबिनेट बैठक के बाद मुंशी से कहा कि आप सोमनाथ मंदिर की पुनःस्थापना के लिए जो प्रयास कर रहे हैं, वे मुझे पसंद नहीं हैं। 1952 से 1957 तक मुंशी उत्तर प्रदेश राज्य के राज्यपाल रहे। 1959 में मुंशी कांग्रेस पार्टी की सदस्यता से त्यागपत्र देकर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की स्वतंत्र पार्टी में शामिल हो गये। इसके कुछ समय बाद उन्होंने भारतीय जनसंघ की सदस्यता ग्रहण कर ली।

एक रचनाकार और सम्पादक के रूप में मुंशी की उपलब्धियाँ अनूठी हैं, जैसे *यंग इण्डिया* अखबार का सम्पादन और मुंशी प्रेमचंद के साथ हंस पत्रिका का सम्पादन। मुंशी एक असाधारण साहित्यकार थे। उन्होंने गुजराती, हिंदी व अंग्रेज़ी में सौ से ज्यादा उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना की। एक साहित्य सेवक के रूप में उन्होंने गुजराती साहित्य परिषद्, संस्कृत विश्वपरिषद् तथा हिंदी साहित्य सम्मलेन की अगुआई भी की। एक शिक्षाविद् के रूप में भी मुंशी ने अनेक शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना की। इनमें सबसे उल्लेखनीय है सरदार पटेल के साथ मिल कर आणंद में भारतीय कृषि संस्थान की स्थापना, जो आज एक पूर्ण विश्वविद्यालय है। मुंशी का देहांत 8 फ़रवरी, 1971 को हुआ।

देखें : अब्दुल हमीद, आर.के. तलवार, इला भट्ट, एलाट्टुवलापिल श्रीधरन, कमला देवी चट्टोपाध्याय, गिजुभाई बधेका, पी.एस. वारियर, देवकी जैन, धोंडो केशव कर्वे, नीरा देसाई, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1, 2 और 3, राज कुमार तलवार, विक्रम साराभाई, वी.के.आर.वी. राव, विद्याबेन शाह, संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण।

संदर्भ

1. के.एम. मुंशी (1990), *द ऐंड ऑफ़ ऐन ऐरा (हैदराबाद मेमोइर्स)*, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई.
2. के. एम. मुंशी (2012), *पिलग्रिमेज़ टू फ्रीडम / इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डाक्यूमेंट्स*, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई.
3. शेषराव चव्हाण (2002), *द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया : रोल ऑफ़ डॉ. के.एम. मुंशी*, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई.

—रवि दत्त वाजपेयी

कपिल

(Kapil)

कपिल सांख्य दर्शन के प्रवर्तक आचार्य हैं। उनकी ख्याति 'आदि विद्वान' के रूप में भी है। व्युत्पत्ति के आधार पर सांख्य का अर्थ है संख्या से संबंधित दर्शन। अब सवाल उठता है कि संख्या का क्या अर्थ है? संख्या का लोक-प्रचलित अर्थ है— गणना, गिनती। कुछ लोगों का विश्वास है कि इस दर्शन में तत्त्वों की गणना सबसे पहले की गयी। कहा गया कि तत्त्व केवल पच्चीस या छब्बीस हैं, इससे अधिक नहीं। इसीलिए इसका नाम सांख्य पड़ा। परंतु अपने प्राचीन आध्यात्मिक अर्थ में सांख्य से तात्पर्य विवेकसम्मत ज्ञान से है। सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है। उसे ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने में कोई रुचि नहीं है। वह कहता है कि संसार की रचना के लिए ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक नहीं क्योंकि पूरे संसार की सृष्टि का कारण प्रकृति है। शाश्वत और अपरिवर्तनशील बताया जाने वाला ईश्वर संसार की सृष्टि कर ही नहीं सकता, क्योंकि कारण और परिणाम अभिन्न होते हैं। कारण ही परिणाम में परिणत होता है। चूँकि ईश्वर अपरिवर्तनशील है इसलिए वह संसार में परिणत नहीं हो सकता। कपिल के इस दार्शनिक सिद्धांत की विशिष्टता इस बात में है कि उन्होंने भाग्य, अलौकिकता और ईश्वर की अवधारणा से दूर रहते हुए अपने दर्शन को तार्किक आधार पर भौतिकवादी नज़रिये विकसित करने का प्रयास किया। इसी कारण से दार्शनिक परम्परा में कपिल की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी मानी जाती है।

समझा जाता है कि आचार्य कपिल का जीवन काल ईसापूर्व सातवीं और छठी शताब्दी के मध्य रहा होगा। कपिल प्रणीत समझी जाने वाली रचना *सांख्यप्रवचन सूत्र* को कुछ विद्वानों ने उनकी रचना मानने से इनकार भी किया है। वे इसे चौदहवीं शती की रचना मानते हैं। शंकराचार्य और अन्य प्राचीन दार्शनिकों ने *सांख्य प्रवचनसूत्र* का कहीं उल्लेख नहीं किया है और न ही उससे कोई उद्धरण लिया है। इसके स्थान पर ईश्वर कृष्ण रचित *सांख्य कारिका* से ही उद्धरण दिये गये हैं जिसका रचनाकाल तीसरी से पाँचवीं शती माना जाता है। वाचस्पति मिश्र ने भी *सांख्य कारिका* पर अपनी प्रसिद्ध *सांख्यतत्त्व कौमुदी* नामक टीका लिखी है। स्वयं ईश्वर कृष्ण ने कपिल, आसुरी तथा पञ्चशिख का सांख्य दर्शन के प्राचीन आचार्यों के रूप में उल्लेख किया है। इस आधार पर दार्शनिक कपिल का जीवनकाल बुद्ध के पूर्व अनुमानित होता है, और यह भी कि उन्होंने *सांख्यप्रवचन सूत्र* की रचना की होगी जो बहुत पहले समाप्त हो गया होगा। *सांख्यप्रवचन सूत्र* पर लिखी गयी टीकाएँ और अन्य ग्रंथों में बिखरी सामग्रियाँ ही

इसके अध्ययन का आधार हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में सांख्य दर्शन प्राचीनतम दार्शनिक प्रणालियों में माना जाता है। वैचारिक जगत पर इसका लम्बे समय तक प्रभाव रहा है। इसकी चर्चा छांदोग्य, प्रश्न, कठ, श्वेताश्वर उपनिषदों सहित महाभारत, गीता, स्मृतियों तथा पुराणों में भी मिलती है। बादरायण और शंकराचार्य ने इस दर्शन का खण्डन करते हुए सांख्य के श्रुतिमूलक होने से भी इनकार किया है। शंकराचार्य ने सांख्य को वेदांत का 'प्रधान मल्ल' (प्रमुख विरोधी) करार देते हुए कहा है कि सांख्य दर्शन कपिल द्वारा प्रणीत, सांख्य एवं योग के मनीषियों और शिष्ट व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत होने के बावजूद द्वैतवादी होने के कारण श्रुतिमूलक या उपनिषद्सम्मत नहीं माना जा सकता है। यहाँ श्रुति एवं स्मृति तथा सांख्य और योग शब्द क्रमशः ज्ञान और कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। बादरायण और शंकराचार्य द्वारा सांख्य के श्रुतिमूलक होने से इनकार करना इस बात का संकेत है कि सांख्य दर्शन के शुरुआती दौर के आचार्य इसे श्रुतिमूलक मानते रहे होंगे और सम्भवतः यह दर्शन श्रुतिमूलक एवं ईश्वरवादी रहा होगा। बाद में बौद्धों एवं जैनों के प्रभाव में आकर अनीश्वरवादी बन गया होगा। बादरायण और शंकराचार्य दार्शनिक जिस सांख्य का खण्डन करते हैं वह यही श्रुतिमूलक समझा जाने वाला सांख्य होगा। इसी परम्परा में आगे चलकर विज्ञान-भिक्षु ने सांख्य में ईश्वरवाद को पुनर्स्थापित किया।

सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। उसके अनुसार यह संसार प्रकृति (भूत) तथा पुरुष (जीव) के संयोग से बना है। ये दोनों स्वभावतः स्वतंत्र तथा मौलिक तत्त्व हैं, परंतु इस संसार में इनका अविवेक या अज्ञान बना रहता है। दोनों आपस में इतने घुले-मिले होते हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। पार्थक्य होने पर ही मोक्ष दशा का उदय होता है। प्रकृति और पुरुष का अलग-अलग ज्ञान हो जाने पर जीव सांसारिक क्लेशों से मुक्त हो जाता है। सांख्य दर्शन में विवेक-ज्ञान पर काफ़ी बल दिया गया है। न्याय-वैशेषिक द्वारा परमाणु, आत्मा, मन, काल, दिक् आदि अनेक मौलिक तत्त्वों को मान्यता दी जाती है, इसलिए उन्हें बहुतत्त्ववादी दर्शन माना जाता है। किंतु सांख्य ने बहुतत्त्वों का विश्लेषण तथा अन्तःपरीक्षण कर पुरुष और प्रकृति को ही दो मूल तत्त्व माना और अन्य तत्त्वों का इनके भीतर उनका अंतर्भाव करार दिया। न्याय दर्शन मानता है कि चाक, डोरी, आदि की सहायता से कुम्हार मिट्टी के भीतर से 'घड़ा' नामक एक अपूर्व द्रव्य पैदा करता है, इसलिए घड़े की 'उत्पत्ति' होती है। सांख्य मत का मानना है कि मिट्टी में पूर्व-स्थित घड़े की अभिव्यक्ति कुम्हार के प्रयत्न से होती है। उसके प्रयत्न से पहले भी घड़ा उस मिट्टी के लोंदे में मौजूद था और प्रयत्न ने उसे केवल प्रकट कर दिया। सांख्य के इस विचार को सत्कार्यवाद के रूप में जाना जाता है।

सत्कार्यवाद कार्य-कारण सिद्धांत पर प्रमुखता से विचार करता है। वह प्रश्न उठाता है कि क्या विभिन्न सामग्रियों के इस्तेमाल और प्रयत्न करने से पहले कार्य कारण में विद्यमान रहता है? अर्थात् कुम्हार द्वारा दण्ड की सहायता से मिट्टी का घड़ा बनाने या घड़ा उत्पन्न होने से पहले वह मिट्टी में विद्यमान था या नहीं? न्याय-वैशेषिक का उत्तर नकारात्मक है अर्थात् घड़ा मिट्टी में विद्यमान नहीं था बल्कि सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है और घड़ा नवीन वस्तु होता है। यदि वह पहले से ही विद्यमान होता तो कुम्हार को मेहनत करने और चाक घुमाने की क्या जरूरत होती तथा घड़े की उत्पत्ति के क्या मायने रह जाते। यदि कार्य पहले से ही कारण में मौजूद रहता तो कार्य और कारण में भेद नहीं रहता। मिट्टी और घड़े दोनों का एक ही नाम होता। मिट्टी का लोंदा घड़े का काम करता। घड़े में तो हम जल रख सकते हैं, तो क्या यही काम हम मिट्टी के लोंदे से कर सकते हैं? इसलिए मिट्टी का घड़ा आकार तथा तात्पर्य दोनों में ही भिन्न है। घड़ा एक नयी चीज़ है, जो मिट्टी में कभी भी विद्यमान नहीं था। घड़ा दण्ड, चाक आदि कारणों यानी सामग्री की सहायता से उत्पन्न एक नयी वस्तु है। नैयायिकों का यह मत असत् कार्यवाद के नाम से जाना जाता है। यह सिद्धांत प्रतिपादित करता है कि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान नहीं होता। कुम्हार के प्रयत्न द्वारा घड़ा नाम की एक नयी वस्तु की उत्पत्ति हुई। वह पहले मौजूद नहीं था। किंतु सांख्य दर्शन का इससे भिन्न मत है। अपने मत के समर्थन में सांख्यकारिका में कई युक्तियाँ मिलती हैं :

1. असदकारणात् : यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान न हो तो, वह असत् होगा। असत् होने से वह शशश्रृंग तथा आकाश कुसुम के समान होगा यानी असत् की उत्पत्ति किसी प्रकार कभी नहीं हो सकती। मिट्टी में पहले से मौजूद था, नहीं तो लाख कोशिश करने पर भी वह उत्पन्न नहीं हो पाता। वह उत्पन्न होता है, यही प्रमाण है कि वह मिट्टी में मौजूद है।

2. उपादानग्रहणात् : प्रत्येक कार्य अपने उपादानकारण या समवायीकरण से सम्बद्ध रहता है और इसलिए उससे उसकी उत्पत्ति होती है। उपादानकारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। उपादान से तात्पर्य है द्रव्य की निष्पादक वस्तु, जैसे घड़े के लिए मिट्टी तथा वस्त्र के लिए तंतु उपादान है। घड़े बनाने के लिए मिट्टी का प्रयोग होता है, तेल के लिए सरसों या तिल का प्रयोग तथा वस्तु की बुनायी तंतु से की जाती है। किसी कार्य के वास्ते किसी विशेष उपादान या सामग्री को ग्रहण करना पड़ता है।

3. सर्वसम्भवाभावात् : कार्य की उत्पत्ति-पूर्व को भी उपादानकारण में मौजूद मानना पड़ेगा। अगर ऐसा नहीं किया जाएगा तो किसी भी कारण या सामग्री से किसी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव माननी पड़ेगी जो कि असम्भव है। अगर हम मिट्टी में घड़े या तंतु में वस्त्र की पूर्व-स्थिति नहीं मानते, तो

सबसे सब चीज़ें पैदा होने लगेंगी। मिट्टी से कपड़ा और कम्बल भी तैयार होने लगेंगे। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति दिखाई नहीं पड़ती। अतः कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है।

4. शक्तस्य शक्य कारणात् : शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, उस कारण से उस कार्य की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जो कार्य बीजरूप से जिस कारण में मौजूद होता, वही कारण उसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। तिलों को पेरने से तेल ही निकलता है, घी नहीं। इसका कारण यह है कि कार्य तथा कारण के बीच एक प्रकार की शक्ति का निवास है। कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान होता है। यही कारण है कि शक्त पदार्थ शक्य वस्तु को ही उत्पन्न करता है। जुलाहा कपड़ा बुनने के लिए तंतु को ही ग्रहण करता है। क्योंकि वह जानता है कि कारण में किसी विशेष कार्य को ही पैदा करने की शक्ति होती है, दूसरे को नहीं। तिलहन से तेल ही निकलता है। लाख कोशिश के बाद भी उससे घी नहीं निकलता। मिट्टी से घड़ा ही बनेगा, लौहपात्र नहीं। ये उदाहरण इस बात के पुख्ता प्रमाण हैं कि कार्य तथा कारण परस्पर सम्बद्ध पदार्थ हैं तथा उत्पन्न होने पूर्व भी कार्य कारण में अवश्य ही विद्यमान रहता है।

5. कारणभवात् : कार्य और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारण कार्य अव्यक्तावस्था है तथा कार्य कारण का व्यक्त रूप है। कारण का जो स्वभाव होता है वही कार्य का भी स्वभाव होता है। स्निग्ध स्वभाव वाले तिलों से स्निग्ध तेल उत्पन्न होता है। मिट्टी से उत्पन्न घड़ा मिट्टी के स्वभाव वाला होता है। इस तरह से कार्य और कारण में स्वभाव की एकता बनी रहती है। यदि असत् स्वभाव वाला कार्य है तो वह असत् स्वभाव वाले कारण से उत्पन्न होता है। परंतु कार्य तो सत्स्वभाव वाला ही होता है, क्योंकि वह तो विद्यमान ही है। फलतः वह सत्स्वभाव वाले कारण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार सत्यकार्यवाद युक्तियुक्त सिद्धांत साबित होता है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *क्रामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली।

2. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012), *भारतीय दर्शन*, खण्ड 2, अध्याय 7, राजपाल एंड संज, नयी दिल्ली.
3. के. दामोदरन (1982), *भारतीय चिंतन परम्परा*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय और धीरेन्द्र मोहन दत्त, *भारतीय दर्शन*, पुस्तक भंडार, पटना.
5. आचार्य बलदेव उपाध्याय (2000), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी.

— अजय कुमार पाण्डेय

कर्मकाण्ड

(Ritual)

कर्मकाण्ड एक सांस्कृतिक व्यवहार है जिसमें परम्पराबद्ध और सामान्य से इतर क्रिया का भाव निहित है। इसके मूल में संदेशपरक सांस्कृतिक कूटार्थ होते हैं जो कर्मकाण्ड में भाग लेने वाले व्यक्ति या समूह के भावजगत पर प्रबल प्रभाव छोड़ते हैं। एक समय कर्मकाण्ड के अध्ययन को मुख्यतः मानवशास्त्रियों का विषय समझा जाता था लेकिन पिछली सदी के आठवें दशक में सामाजिक सैद्धांतिकी के क्षेत्र ने एक नयी करवट ली जिसके परिणामस्वरूप समाज-विज्ञानों में सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को महत्त्व दिया जाने लगा। समाजशास्त्रियों के लिए यह विषय इसी के बाद अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता चला गया। कर्मकाण्ड का शोध-विमर्श मुख्यतः तीन प्रश्नों के इर्द-गिर्द संगठित रहा है। एक, कर्मकाण्ड के विश्लेषण में संस्कारों की अंतस्थ क्रिया और उनके आयोजन को प्राथमिकता मिलनी चाहिए या ब्रह्माण्ड विज्ञान और प्रतीक, चिंतन संबंधी विश्वासों को? दो, व्यावहारिकता पर आधारित मॉडल में सत्ता और वर्चस्व की समझ को कैसे समाहित किया जाए? तीसरे, संस्कारों को सामूहिकता में समझा जाना चाहिए या कि उनके प्रति सूक्ष्म-समाजशास्त्रीय दृष्टि अपनायी जाए?

समाज-विज्ञानों में धार्मिक कर्मकाण्ड को लेकर जो भी अध्ययन किया गया है उसका मूल आधार दुर्खाइम की क्लासिक रचना *एलीमेंटरी फॉर्म ऑफ रिलीजस लाइफ* रही है। दुर्खाइम का यह अध्ययन ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी समुदाय पर केंद्रित था। इसकी बुनियादी प्रस्थापना यह थी कि समाज को अपने आपसी संबंधों तथा आंतरिक एकता के सूत्रों को मजबूत करने या नवीकृत करने की जरूरत पड़ती है। दुर्खाइम के अनुसार आदिवासी समुदाय जब धार्मिक संस्कारों के लिए एकत्रित होते हैं तो उसका उद्देश्य यही होता है। दुर्खाइम ने प्रतिपादित किया कि ऐसे अवसरों पर प्रतीकों

और परा-भौतिक शक्तियों का आह्वान और प्रयोग, देह की भावनापूर्ण भंगिमाएँ, भोज और यौन गतिविधि, मिथकों और पुरा-कथाओं का नाटकीय प्रदर्शन समुदाय में एक विशेष भावुकता और संवेदना का संचार करते हैं। दुर्खाइम इसे सामूहिक उन्मेष की संज्ञा देते हैं। वे इस बात पर जोर देते थे कि समाज के ये संयोजनकारी संस्कार विश्वास और वर्गीकरण की अंतर्निहित व्यवस्था के साथ अंतर्क्रिया करते हैं। उनके अनुसार यह एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिससे पवित्र और लौकिक या सांसारिक का अंतर उद्घाटित होता है। वे धर्म को सांस्कृतिक कूटार्थ और कर्मकाण्ड का जटिल संगम मानते थे। दुर्खाइम की दृष्टि में यही धर्म समाज की संरचना के लिए आधार-भूमि का काम करता है। एक तरह से देखें तो समाजशास्त्र में कर्मकाण्ड को लेकर जो सिद्धांत प्रतिपादन हुआ है उसे दुर्खाइम की इस रचना का विस्तार और रचनात्मक पाठ भी कहा जा सकता है।

हालाँकि दुर्खाइम ने अपने अध्ययन के लिए जो सामग्री जुटायी थी वह आदिम समाज से ताल्लुक रखती थी लेकिन उनके रुझान से यह साफ़ झलकता है कि दुर्खाइम आदिम जनजाति के कर्मकाण्डों के लक्षणों और सामाजिक आशयों को सार्वभौमिक रूप से भी प्रासंगिक मान रहे थे। परंतु बाद के समाजशास्त्रियों ने दुर्खाइम के योगदान पर तत्परता से विचार नहीं किया। 1920 के दशक में मार्सेल मौज़ ने *द गिफ्ट* नामक पुस्तक की रचना की। लेकिन इसमें उन्होंने उपहार के कर्मकाण्डीय पक्षों पर ध्यान देने के बजाय विनिमय के संबंधों और आर्थिक जीवन को ज्यादा महत्त्व दिया। तीसरे दशक में फ्रांस बताई आदि की दिलचस्पी पवित्रता की विशेषता बताने में ज्यादा रही और उन्होंने इस पहलू पर पर्याप्त विचार नहीं किया कि पवित्रता का अनुभव समाज की सामूहिक मध्यस्थता के बिना कैसे सम्भव हो सकता है। यही वजह है कि जब लॉयड वार्नर ने कर्मकाण्ड के इस मॉडल को अमेरिका जैसे विकसित समाज के देहाती और कस्बाई जीवन पर लागू करके देखा तो उसे एक महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया। आज वार्नर का चिंतन साधारण लग सकता है लेकिन अमेरिका के मेमोरिअल डे उत्सव के विश्लेषण में वार्नर जब उसे मृतकों का पंथ बताते हैं तो वे असल में दुर्खाइम के वृहत्तर दृष्टिकोण का ही विस्तार करते हैं। इसी तरह छठे दशक में राबर्ट बेलाह की नागरिक धर्म की अवधारणा, एडवर्ड शिल का केंद्र और परिधि संबंधी चिंतन तथा मैरी डगलस का पवित्रता और प्रदूषण पर किये जाने वाले कार्य कर्मकाण्ड की गतिविधियों पर फोकस करने के बजाय वर्गीकरण और ब्रह्माण्ड विज्ञान के सूत्रों में उलझ जाते हैं।

यह मानते हुए भी कि समाज की बुनियाद किसी न किसी तरह की धार्मिकता पर टिकी होती है, ये विद्वान

कर्मकाण्ड के बजाय विश्वासों के अध्ययन में ज्यादा संलग्न थे। इस संबंध में विक्टर टर्नर के शोध को सबसे महत्वपूर्ण अपवाद कहा जा सकता है। टर्नर समाज के समता भाव, बराबरी की भावना तथा सर्जनात्मक संबंधों का प्रतिपादन करते हुए कभी दुर्खाइम का सीधा हवाला नहीं देते लेकिन उन पर दुर्खाइम के कर्मकाण्डीय व्यवहार से संबंधित चिंतन की छाप साफ़ देखी जा सकती है।

सातवें और आठवें दशकों में दुर्खाइम के प्रकाशवादी दृष्टिकोण को कड़ी चुनौती मिलने लगी। इस दौर में कर्मकाण्ड को लेकर यह दृष्टिकोण उभरा कि कर्मकाण्ड को एक राजनीतिक व्यवहार की तरह क्यों न देखा जाए। स्टीवंस ल्यूक्स ने एक बेहद मौलिक लेख में यह प्रस्थापना रखी कि कर्मकाण्ड को ऐसी घटनाओं के रूप में देखा जाना चाहिए जिनके पीछे कुछ निश्चित प्रायोजक होते हैं और जिनका उद्देश्य वर्चस्व स्थापित करना होता है। एक अन्य विद्वान डेविड कर्त्जर का भी यही मानना था कि कर्मकाण्ड प्रतिस्पर्द्धा और सामाजिक लामबंदी के माध्यम भी हो सकते हैं तथा सहमति और साझे विश्वासों के बिना भी कर्मकाण्ड का सिक्का चल सकता है। पियरे बोर्दियो ने उपहार-विनिमय का विश्लेषण करते हुए कहा कि कर्मकाण्ड में रणनीति और हितों का एक सहज हिसाब-किताब भी शामिल रहता है। इसी तरह सांस्कृतिक अध्येता स्टुअर्ट हाल ने युवाओं की उप-संस्कृतियों के अध्ययन में यह प्रतिपादित किया कि ऐसी संस्कृतियाँ एक तरह से समाज की वर्चस्वादी व्यवस्था की प्रत्यालोचना होती हैं। हॉल ने इन उप-संस्कृतियों को प्रतिरोध का कर्मकाण्ड कहा है।

दुर्खाइम के दृष्टिकोण को दूसरी चुनौती इरविंग गॉफ़मैन के अध्ययन से मिली। गॉफ़मैन का चिंतन प्रत्यक्ष अंतर्क्रिया से संबंधित था। यह सूक्ष्म-समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आर्नोल्ड वान गैनेप तथा दुर्खाइम के अध्ययनों पर आधारित था। गैनेप की प्रस्थापना यह थी कि कर्मकाण्ड के ज़रिये समाज अपने सदस्यों को एक वैध और सुस्पष्ट पहचान प्रदान करता है। और ऐसा ख़ास तौर पर तब घटता है जब व्यक्ति का पदानुक्रम संक्रमण की प्रक्रिया में होता है। गॉफ़मैन ने रोज़मर्रा के जीवन की स्थितियों के अवलोकन को सैद्धांतिक विन्यास देते हुए यह प्रतिपादित किया कि लोगबाग जब आपस में मिलते हैं तो एक दूसरे से व्यवहार और सम्मान की उम्मीद करते हैं। यह एक रोज़मर्रा का कर्मकाण्ड होता है जिसमें व्यक्ति के आत्म और उसकी सामाजिक हैसियत को सम्मान की आश्वस्ति मिलती है। इससे व्यक्ति में यह भाव भी जाग्रत होता है कि उससे बाक़ी लोग क्या अपेक्षा करते हैं।

रैंडल तथा कॉलिनस के कर्मकाण्ड संबंधी शोध-

लेखन-चिंतन में दैनिक कर्मकाण्ड के विचार को द्वंद्व के समाजशास्त्र के साथ गूँथने का प्रयास किया गया है। उनका मानना है कि सामूहिक पहचान तथा एकता का भाव दैनिक मेलजोल के कर्मकाण्ड की इसी श्रृंखला के ज़रिये अस्तित्व में आता है और समाज में नीचे से ऊपर की ओर आकार ग्रहण करता है। यह श्रृंखला समाज में केवल उत्साह और आपसी मेलमिलाप जैसे भावों को ही प्रोत्साहन नहीं देती बल्कि स्तरीकरण, पदानुक्रम तथा विशेष अधिकारों से सम्पन्न गुटों का भी निर्माण करती है।

कर्मकाण्ड के समकालीन समाजशास्त्र में इन सूत्रों पर आज भी संवाद जारी है, जिसका बड़ा हिस्सा दुर्खाइम के अध्ययन की पुनर्व्याख्या से जुड़ा है। कुछ विद्वान दुर्खाइम के पवित्र और सांसारिक के विभाजन को आज भी महत्वपूर्ण मानते हैं और कर्मकाण्ड को समाज के गहरे विश्वासों का प्रदर्शन मानते हैं। जबकि अन्य विद्वान इसे एक तरह का आदर्शवाद मानते हैं और इस तथ्य पर जोर देते हैं कि विश्वास की संरचना ऐसी कमज़ोर कड़ियों पर आधारित है जिनके सूत्र आंतरिक स्तर पर एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। ये विद्वान विश्वास को एक अपरिपक्व संरचना मानते हैं। उनका मत है कि कर्मकाण्ड का वास्तविक संबंध अंतस्थ और व्यावहारिक कार्यों से है। कुछ विद्वान कर्मकाण्ड के सार्वभौमिक, एकता परक और समतावादी परिणामों पर ज्यादा ध्यान देते हैं तो कुछ उसे वर्चस्व स्थापित करने का औज़ार मानते हैं। एक ओर से अध्येता हैं जो कर्मकाण्ड या कर्मकाण्डीकरण को क्रिया (एक्शन) का गुण मानते हैं तो दूसरी ओर अनेक विद्वान उसे एक ऐसा सामाजिक तथ्य मानते हैं जो क्रिया के लिए प्रेरणा का काम भी करता है और साथ ही उसकी सीमाओं को भी उजागर करता है।

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आठवें दशक के बाद कर्मकाण्ड का अध्ययन केवल मानवशास्त्रीय उद्यम नहीं रह गया है। समाज-विज्ञानों में सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के बढ़ते प्रभाव के कारण कर्मकाण्ड की अवधारणा अब केवल धर्म के अध्ययन तक सीमित न रहकर राजनीतिक घोटालों, विवादों और प्रतिस्पर्द्धाओं, नाटक की अंतर्वस्तु, खेल, पर्यटन और धर्मयात्राओं, सामूहिक स्मृति और घटनाओं के उत्सवों, देह के अध्ययन, भावनाओं, रोज़मर्रा के मेलजोल; तथा क्रांति, प्रतिरोध, सामूहिक लामबंदी, दण्ड व्यवस्था की चर्चा, नियमन और नियंत्रण जैसे विषयों के शोध में भी पैठ बना चुकी है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जे. एलेक्जेंडर और पी. स्मिथ (सम्पा) (2004), *द केम्ब्रिज कम्पेनिअन टू दुखाईम*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एमील दुखाईम (1968/1912), *द ऐलिमेंटरी फ़ॉर्स ऑफ़ रिजीजस लाइफ़*, एलेन ऐंड अनविन, लंदन.
3. ई. गॉफ़मैन (1967), *इंटरएक्शन रिचुअल*, एल्डाइन, शिकागो.
4. एस. ल्यूक्स (1975), 'पॉलिटिकल रिचुअल ऐंड सोशल इंटीग्रेशन', *ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ सोसिओलॉजी*, खण्ड 9. अंक 2.

— नरेश गोस्वामी

करारोपण

(Taxation)

करारोपण या कराधान या टैक्स लगाना किसी भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का एक अप्रिय यथार्थ है। यह हकीकत इसलिए है कि इसके बिना सरकारों का काम नहीं चल सकता। सार्वजनिक वित्त या सरकारी ख़जाने की गतिविधियाँ इसके बिना ठप पड़ जाएँगी। यह अप्रिय इसलिए है कि इसके कारण व्यक्तियों और संस्थाओं की आमदनी पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। करारोपण का प्रश्न विचारधारात्मक संघर्ष का अखाड़ा भी है। समाज के आर्थिक जीवन में राज्य के कम से कम हस्तक्षेप के समर्थकों की निगाह में टैक्स एक तरह का 'जबरिया श्रम' है जो सरकार नाजायज़ रूप से लेती है। राज्य के लोकोपकारी रूप के पक्षधर मानते हैं कि टैक्स के ज़रिये समाज में आमदनी के समतामूलक पुनर्वितरण की पहलकदमी की जा सकती है।

आर्थिक वृद्धि और करारोपण का संबंध हमेशा से अर्थशास्त्रियों के सरोकार के केंद्र में रहा है। टैक्स की क्रिस्म और करारोपण की संरचना आर्थिक प्रोत्साहन देने वाली नीतियों को लाज़मी तौर से प्रभावित करती है जिसका असर उत्पादकता और सकल घरेलू उत्पाद पर पड़ता है। व्यक्तियों पर लगाया जाने वाला टैक्स पूरी अर्थव्यवस्था को प्रभावित नहीं करता। लेकिन उपभोक्ता पर लगाया जाने वाला टैक्स या उत्पादक पर लगाया जाने वाला टैक्स बाज़ार में माँग को दबा देता है। स्कैंडिनेवियायी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ इस मामले में अनूठी हैं कि वे टैक्स भी लगाती हैं और आर्थिक वृद्धि को जारी रखने में समर्थ हुई हैं। सिंगापुर और हांगकांग जैसी अर्थव्यवस्थाओं की प्रगति का रहस्य कम से कम कराधान में निहित माना जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में तो यह बहस आज तक किसी मक़ाम पर नहीं पहुँच पायी है। भारतीय राज्य की आत्म-छवि जब लोकोपकारी राज्य की थी,

उस समय तो टैक्स जम कर लगाये ही जाते थे। पर बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था के ज़माने में भी सरकार ने करारोपण के तमाम तर्क खोज निकाले हैं।

टैक्स मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं : व्यक्तिगत स्तर पर लोगों की आमदनी पर लगाया जाने वाला टैक्स प्रत्यक्ष करों की श्रेणी में आता है। बिक्री कर, आयात या निर्यात पर लगाया जाने वाला कर, पूँजीगत कर, उत्पाद कर, कॉरपोरेट टैक्स, सेवा कर या मूल्यवर्धित कर अप्रत्यक्ष करों की श्रेणी में आता है। निजी स्तर पर लगाया जाने वाले आयकर लगाने की कई विधियाँ हो सकती हैं। मसलन, एक स्तर पर आमदनी को टैक्स फ्री रखने के बाद उस सीमा से अधिक आमदनी पर करारोपण किया जा सकता है। विभिन्न स्तर की आमदनी पर विभिन्न दरों पर टैक्स लगाया जा सकता है। आयकर की दरें सपाट भी हो सकती हैं जिन्हें हर तरह की आमदनी के ऊपर लागू किया जा सकता है। अगर वसूले गये टैक्स की मात्रा और दर करदाता की आमदनी के बढ़ने के साथ ही बढ़ रही है तो उस कराधान को वर्धमान या प्रोग्रेसिव की संज्ञा दी जाती है। कर चुकाने में खर्च की गयी रकम और आमदनी के अनुपात को कर की औसत दर माना जाता है। आमदनी की अंतिम इकाई पर लगाया गया टैक्स सीमांत दर के मुताबिक होता है। अगर सीमांत दर ऊँची है तो समझा जाता है कि इसके कारण बाज़ार में श्रम की आपूर्ति पर विपरीत असर पड़ सकता है। लेकिन अगर करदाता कर-उपरांत आमदनी करना चाहता है तो ऊँची सीमांत दर उसके लिए फ़ायदेमंद भी साबित हो सकती है। अप्रत्यक्ष कर एड वेलोरम यानी करारोपित किये जा रहे उत्पाद या सेवा के कुल मूल्य के आधार पर एकमुश्त भी लगाये जा सकते हैं। निचली आमदनी वाले तबकों को इस तरह के टैक्सों से बड़ी तकलीफ़ होती है, क्योंकि उनकी वजह से इन तबकों की कर-पूर्व आमदनी घट जाती है। जहाँ तक टैक्स वसूली के तंत्र का सवाल है, सरकारें अपने कर्मचारियों द्वारा स्वयं भी टैक्स वसूलती हैं और टैक्स जमा करने का अधिकार 'टैक्स फ़ार्मर' को बेच भी देती हैं।

समाज में श्रम और बचत को प्रोत्साहित करने में टैक्स की भूमिका पर राजनीतिक शास्त्र, दर्शन और अर्थशास्त्र के साहित्य में काफ़ी चर्चा मिलती है। थॉमस हॉब्स ने अपने ग्रंथ *लेवायथन* में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर के बजाय व्यय पर कर लगाने का सुझाव दिया था। कम से कम टैक्स लगाने की तरफ़दारी करते हुए ऐडम स्मिथ ने करारोपण के मामले में सुचिंतित हिदायतें दी हैं : हर राज्य की प्रजा को सरकार की मदद करने के लिए जितना सम्भव हो सके अपनी-अपनी क्षमताओं के हिसाब से करना चाहिए। आखिर व्यक्ति सरकार के संरक्षण के तहत ही आर्थिक आमदनी करता है। व्यक्तियों पर लगाये जाने वाले टैक्स एक निश्चित प्रणाली के मुताबिक होने चाहिए न कि मनमाने। टैक्स देने वाले के सामने उसके

भुगतान का समय, तरीका और मात्रा पूरी तरह से स्पष्ट होनी चाहिए। टैक्स इस तरह से और इस प्रकार लगाया जाना चाहिए कि करदाता को उसका भुगतान सुविधाजनक लगे। साथ ही सरकार को अपनी जरूरत से ज्यादा एक पैसा भी नहीं वसूलना चाहिए।

स्मिथ की ये हिदायतें दो तरह से देखी जा सकती हैं। एक तरफ तो ये करारोपण से जुड़े विवादों को कम करने के बजाय बढ़ाती हैं, दूसरी तरफ कुछ समाधान भी पेश करती हैं। मसलन, इन निर्देशों के अनुसार करारोपण व्यक्ति की कर देने की क्षमता पर आधारित होना चाहिए जिसे तय करने के मानक बनाना बहुत कठिन है। दूसरा प्रश्न यह है कि व्यक्ति सरकार की मदद कितनी करना चाहेगा। वह सरकार के लिए पूरा त्याग करने के लिए तैयार हो जाएगा, सापेक्षिक त्याग करेगा या फिर सीमांत त्याग ही करेगा। तीसरी बात यह है कि यहाँ स्मिथ एक तरह के लाभ कर की सिफारिश करते हुए दिखते हैं जिसके मुताबिक व्यक्ति को सरकार से प्राप्त लाभ के मुताबिक उसे कर अदा करना चाहिए। स्मिथ की इन हिदायतों के कुछ दूसरे पहलू करारोपण की समस्या को हल भी करते हैं। एक निश्चित कर प्रणाली का सुझाव भ्रष्टाचार की समस्या से बचने की तरफ ले जाता है। सही समय पर यानी आमदनी हो जाने पर टैक्स लगाने का सुझाव करदाता को टैक्स देने के लिए कर्ज लेने की स्थिति में नहीं धकेलता।

डेविड रिकार्डो ने अपनी रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी एंड टैक्सेशन* में कई तरह के टैक्सों के अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले असर का विस्तृत विश्लेषण पेश किया है। उन्होंने यह पता लगाने की कोशिश भी की थी कि फ्रांसीसी क्रांति और नेपोलियन द्वारा छेड़े गये युद्धों के दौरान किये गये भारी करारोपण का राष्ट्रीय आमदनी पर क्या असर पड़ा।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिडाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्तासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटी, विश्व व्यापार

संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. ऐडम स्मिथ (1776/1976), *एन इनक्वारी इनटु द नेचर ऐंड कॉजेज़ ऑफ़ द वेल्थ ऑफ़ नेशंस*, ओयूपी, ऑक्सफ़र्ड.
2. ई.आर.ए. सेलिंगमेन (1885), *एसेज़ इन टैक्सेशन*, मैकमिलन, न्यूयॉर्क और लंदन.
3. बी. सेलेनी (2003), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ टैक्सेशन*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज एमए और लंदन.
4. डेविड रिकार्डो (1821), *ऑन द प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, एंड टैक्सेशन, जॉन मरे, लंदन, तीसरा संस्करण.

— अभय कुमार दुबे

करिश्मा

(charisma)

यूनानी भाषा के शब्द करिश्मा का प्रयोग न्यू टेस्टामेंट में किया गया है। इसका मतलब है ईश्वर का वह अवदान जो उसके अनुयायियों को 'मुफ्त तोहफ़े' के रूप में मिलता है। समाज-विज्ञान में करिश्मे की अवधारणा प्रचलित करने का श्रेय जर्मन विद्वान मैक्स वेबर को जाता है। समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और धर्मशास्त्रियों ने करिश्मे का विशेष रूप से अध्ययन किया है। राजनेताओं, मशहूर वक्ताओं, धर्मगुरुओं, पैगम्बरों, क्रांतिकारी नेताओं, फ़िल्म अभिनेताओं, पॉप स्टारों और कभी-कभी अकादमीशियनों में करिश्माई गुणों की अभिव्यक्तियाँ पायी जाती हैं। राजनीतिक शासन के विधेयक आधार की खोज करते हुए वेबर ने अपनी रचना *इकॉनॉमी एंड सोसाइटी* में प्राधिकार की तीन क्रिस्मों में से एक को करिश्माई की संज्ञा दी थी। इसी के बाद राजनीतिक प्राधिकार के करिश्माई पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। लेकिन, राजनीति के साथ करिश्मे का विचार धर्म के समाजशास्त्र के लिए भी महत्वपूर्ण है। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में उभरे कई विवादास्पद धार्मिक आंदोलनों के शीर्ष पर भी करिश्माई नेतृत्व देखा गया है। रेवरेंड मून, भगवान 'ओशो' रजनीश या मोजेज़ डेविड बर्ग को इसकी मिसाल के रूप में देखा जा समझा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि अपने ही ऊपर मोहित रहने की प्रवृत्ति से ग्रस्त करिश्माई नेताओं के मानस में एक ख़ास तरह का एकतरफ़ापन होता है जिसके कारण वे सामान्य लोगों को सताने वाली दुश्चिन्ताओं और दुविधाओं से परेशान नहीं होते।

नेता और उसके अनुयायियों के बीच सूत्र के लिहाज से करिश्मा एक ऐसा संबंध है जिसके प्रभाव में अनुयायियों को अपना नेता कुछ असाधारण गुणों से सम्पन्न लगता है। अपने अनुयायियों की इसी मान्यता के कारण करिश्माई नेता अपने व्यक्तित्व को संस्थागत नियंत्रण के दायरे से बाहर रख पाने में कामयाब होते हैं। धर्म के संदर्भ में करिश्मा किसी पद में निहित भी हो सकता है। धर्मावलम्बियों को लगता है कि कुछ खास तरह के ऊँचे धार्मिक पदों पर आरूढ़ होने के कारण करिश्मा दिखाई देने लगता है। चाहे धार्मिक हो या राजनीतिक, आम तौर पर करिश्माई नेतृत्व ऐसे समय में उभरता है जब सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के प्रभाव में समाज में अस्थिरता व्याप्त हो जाती है। भविष्य के अंदेशों से डरे हुए लोगों को लगता है कि करिश्माई नेतृत्व में आस्था रखने या उसके सामने समर्पण कर देने से वे अनदेखे और अनजाने खतरों से बच जाएँगे।

करिश्माई प्राधिकार पूरी तरह से एक व्यक्ति की शख्सियत के चमत्कारी प्रभाव पर निर्भर होता है। इसके माध्यम से कोई नेता या अधिकारी लोगों से सीधा संवाद करके उसके जरिये उनसे अपनी बात मनवा लेता है। इसके लिए जरूरी नहीं कि उसके पास कोई पद या किसी संस्था की ताकत हो। उदारतावादी लोकतंत्रों में इस तरह के प्राधिकार के पनपने की गुंजाइश कम रहती है, क्योंकि वहाँ संविधान सत्ता की सीमाएँ तय कर देता है। इसके बावजूद मार्गरेट थैचर और उनसे पहले फ्रेंकलिन डी. रूज़वेल्ट के कार्यकाल में भी करिश्माई पहलुओं की झलक मिली थी। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि करिश्माई नेतृत्व लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी पैदा हो सकता है, और अलोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी। हिटलर और मुसोलिनी जैसे नेता अलोकतांत्रिक करिश्मे के उदाहरण हैं।

भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया से सत्ता में आयी इंदिरा गाँधी को करिश्माई नेता माना जाता है। जिस तरह करिश्माई व्यक्तित्व स्थापित नियमों, कानूनों और संस्थाओं से परे जा कर लोगों से निष्ठा प्राप्त कर लेता है, उसी तरह इंदिरा गाँधी ने कांग्रेस पार्टी के जमे हुए क्षेत्रीय नेतृत्व द्वारा आरोपित सीमाओं को धता बताते हुए सरकार और दल पर अपना नेतृत्व क्रायम करने में सफलता प्राप्त की। करिश्माई खूबियाँ जरूरी नहीं कि प्रकृति-प्रदत्त ही हों। राजनीतिक नेता अक्सर मीडिया के चतुराईपूर्ण इस्तेमाल और भाषण-कला विकसित करके अपना करिश्मा गढ़ने की कोशिश करते हैं। मुसोलिनी, हिटलर, माओ त्से-तुंग, स्तालिन और किम इल सुंग के करिश्मे के पीछे प्रोपेगंडा तंत्र का इस्तेमाल करके 'पर्सनैलिटी कल्ट' विकसित करने की योजनाबद्ध कोशिशें देखी गयी हैं।

वेबर ने 'रूटीनाइज़्ड करिश्मा' या करिश्मा के संस्थानीकरण का जिक्र किया था जिसकी अभिव्यक्तियाँ पदों

में निहित करिश्मे के रूप में देखी जा सकती हैं। पर अधिकांशतः करिश्मा संस्थागत नियंत्रण और जवाबदेही की अवहेलना करता है। करिश्माई प्राधिकार में संस्थागत शासन के परे जा कर लोगों से बिना शर्त निष्ठा और समर्पण की माँग करने की प्रवृत्ति होती है जिससे अधिनायकवादी और निरंकुश सत्ता की तरफ जाने का खतरा होता है। वह खुद को मसीहा के रूप में पेश करते हुए जनता को मुक्ति की मंज़िल की तरफ ले जाने का दावा करता है। जिस मुक्ति का आश्वासन दिया जाता है, वह आम तौर पर अपरिभाषित रहती है। धार्मिक आंदोलनों के संदर्भ में संस्थागत संयम का अभाव उनके नेताओं को चौंका देने वाले असंयमित व्यवहार, सेक्सुअल हिंसा और अतिवादी रवैये की तरफ ले जाता है। अनुयायियों को इससे दिक्कत नहीं होती, बल्कि वे इसे अपने नेता या 'भगवान' की लीला की तरह देखते हैं। व्यावहारिक रूप से कई बार इस तरह के लीला-पुरुषों के चमत्कारी व्यक्तित्व की आड़ में भ्रष्टाचार पनपते देखा गया है। करिश्माई धर्म-गुरुओं द्वारा चलाये जाने वाले धार्मिक आंदोलन समाज के दूसरे हिस्सों में बेचैनियाँ पैदा करते हैं जिसके कारण इन आंदोलनों को व्यवस्था के उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। ऐसी ही बेचैनियों के कारण ओशो के कम्यून को अमेरिका से भारत वापिस चले आना पड़ा था। इसका दूसरा पहलू इस तरह के आंदोलनों के भीतर आत्म-हिंसा की प्रवृत्ति का होना है। करिश्माई धर्म-गुरुओं के आदेश पर उनके अनुयायियों द्वारा सामूहिक आत्महत्याएँ करने के प्रकरण भी सामने आ चुके हैं।

संस्थागत संयम की सीमाओं के परे रहने से करिश्माई नेतृत्व को मनमानी करने की छूट तो मिलती है, पर दूसरी ओर वह अपने प्राधिकार को टिकाने के लिए आवश्यक संस्थाओं की सहकारी भूमिका से भी वंचित हो जाता है। इसी कारण करिश्माई नेतृत्व का बुनियादी चरित्र अस्थिरता और असुरक्षा का शिकार रहता है। चूँकि असाधारण और दैवी समझे जाने वाले गुणों का कोई वस्तुगत आधार नहीं हो सकता, इसलिए उनमें अनुयायियों की आस्था भी किसी सुचिंतित तर्क के अधीन न हो कर भंगुर क्रिस्म की होती है। ऐसे नेता को हमेशा अंदेशा सताता रहता है कि कहीं उसके अनुयायी उसके करिश्मे के सम्मोहन से बाहर न निकल जाएँ। इसी कारण से एक अनदेखी प्रक्रिया भी चलती रहती है जिसके तहत करिश्माई प्राधिकार अनुयायियों को अपनी ओर आकर्षित रखने के लिए नये-नये रक्षात्मक पैतरे अपनाता है। लेकिन इस रणनीतिक योजना के परिणाम उसके हाथ से बाहर होते हैं। इस चक्कर में कई बार करिश्माई नेतृत्व अपने ही हाथों से अपना खात्मा भी कर बैठता है। कई धार्मिक संगठनों के समाप्त हो जाने के पीछे उनके करिश्माई नेतृत्व की भूमिका स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

देखें : अभिजन, अभिरुचि, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, जादू, जातीयता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बेगानगी, भीड़, मैक्स वेबर, विचलन।

संदर्भ

1. मैक्स वेबर (1922/1985), *इकॉनॉमी ऐंड सोसाइटी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एफ़.ई. बर्ड (1993), 'कैरिज्मा ऐंड लीडरशिप इन न्यू रिलीजियस मूवमेंट्स', डी.जी. ब्रोमली और के. हैडिन (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ कल्चर्स ऐंड सेक्टर्स इन अमेरिका*, ग्रीनविच, कनेक्टीकट.
3. आर. वालिस (1993), 'कैरिस्मा ऐंड एक्सप्लेनेशन', ई. बार्कर वगैरह (सम्पा.), *सेकुलरिज्म, रैशनलिज्म ऐंड सेक्टेरियनिज्म*, ऑक्सफ़र्ड, क्लैरेंडन प्रेस.

— अभय कुमार दुबे

कर्नाटक

(Karnataka)

भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित कर्नाटक का गठन 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित होने के बाद एक नवम्बर, 1956 को हुआ था। यह दिन राज्य में कर्नाटक राज्योत्सव (या निर्माण दिवस) के रूप में बनाया जाता है। भाषाई आधार पर गठित होने के कारण इसमें मुख्यतः दक्षिण भारत के कन्नड़भाषी क्षेत्रों को शामिल किया गया। शुरुआत में इसका नाम मैसूर राज्य था जिसे 1973 में बदल कर कर्नाटक किया गया। कर्नाटक की स्वातंत्र्योत्तर राजनीति को तीन भागों में बाँट कर समझा जा सकता है : पहला, 1947 से 1983 तक का दौर जो कांग्रेस के वर्चस्व का दौर था। दूसरा, 1983-1989 का दौर जब कांग्रेस के वर्चस्व को पहली बार चुनौती मिली और राजनीतिक प्रतियोगिता त्रिकोणीय हो गयी। 2013 के चुनावों में भारतीय जनता पार्टी और क्षेत्रीय ताकतों को परास्त करके कांग्रेस ने दिखाया है कि वह इस राज्य की सर्वप्रमुख शक्ति बनी हुई है। कांग्रेस के बाद दूसरी बड़ी ताकत भारतीय जनता पार्टी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कर्नाटक की राजनीति में लिंगायत और वोक्कलिंगा समुदायों के बीच में मुख्य राजनीतिक होड़ रही है। लिंगायत एक पृथक शैव सम्प्रदाय है जो मुख्यधारा के हिंदू धर्म से कई मामलों में अलग है। इस समुदाय के लोग एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं और शिव की पूजा करते हैं। वेदों और जाति-व्यवस्था को खारिज करने वाले लिंगायत पूरे कर्नाटक में फैले हुए हैं।

लेकिन उत्तरी और मध्य कर्नाटक में वे ज्यादा संख्या में हैं। यह राज्य का सबसे बड़ा समुदाय है और राज्य की कुल जनसंख्या में इनकी हिस्सेदारी 21 प्रतिशत है। वोक्कलिंगा एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग मुख्य रूप से खेतिहर जातियों के लिए किया जाता है। इन जातियों का फ़ौजी इतिहास रहा है। ये मुख्य रूप से पुराने मैसूर राज्य या वर्तमान दक्षिणी कर्नाटक में केंद्रित हैं। इसमें गंगादिकारा, मोरासू, नामधारी, गौड़ा, कुनचितिंगा, कोडागू आदि उपसमूह शामिल हैं। कर्नाटक की राजनीति में लिंगायत और वोक्कलिंगा समुदायों का ही वर्चस्व रहा है।

कर्नाटक की राजधानी बंगलुरु है। कर्नाटक के पश्चिम में अरब सागर, उत्तर-पश्चिम में गोवा, उत्तर में महाराष्ट्र, पूर्व में आंध्र प्रदेश, उत्तर-पूर्व में तमिलनाडु और उत्तर-पश्चिम में केरल स्थित है। कर्नाटक का भौगोलिक क्षेत्रफल 1,91,791 वर्ग किमी है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 61,130,704 है। क्षेत्रफल के लिहाज़ से यह भारत का आठवाँ और जनसंख्या के लिहाज़ से नौवाँ सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ का जनसंख्या घनत्व 3,81,736 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। 2011 की जनगणना के अनुसार कर्नाटक की साक्षरता दर 69.3 प्रतिशत है और साक्षरता के मामले में भारत में इसका स्थान अठारहवाँ है। कर्नाटक की विधायिका दो सदनीय है। विधानसभा में कुल 224 और विधान परिषद् में 75 सदस्य चुने जाते हैं। कर्नाटक से लोकसभा के 28 और राज्यसभा के 12 सदस्य चुने जाते हैं। कर्नाटक की राजकीय भाषा कन्नड़ है और यहाँ का उच्च न्यायालय बंगलुरु में है।

ऐतिहासिक रूप से आधुनिक कर्नाटक के विविध भाग विभिन्न शासकों के अंतर्गत रहे हैं। अंग्रेज़ों के भारत आने के बाद कर्नाटक के उत्तरी भाग में हैदराबाद के निज़ाम, अंग्रेज़ों और कुछ दूसरी शक्तियों का शासन था। दक्षिण कर्नाटक मैसूर राज्य के रूप में था। यहाँ विजयनगर साम्राज्य के एक पुराने जागीरदार के वंशजों का शासन था। बाद में, कृष्णराजा वाडेयार की मृत्यु के बाद यहाँ उनकी सेना के प्रमुख हैदर अली का नियंत्रण हो गया। हैदर अली की मृत्यु के बाद टीपू सुल्तान ने यहाँ शासन किया। यूरोपीय शक्तियों के प्रसार को रोकने के लिए हैदर अली और टीपू सुल्तान ने चार आंग्ल-मैसूर युद्ध लड़े। आखिरी युद्ध के बाद 1799 में टीपू सुल्तान की शहादत हुई और मैसूर को ब्रिटिश राज में मिला लिया गया। मैसूर में वाडेयार वंश को फिर से स्थापित किया गया और मैसूर ब्रिटिश शासन का एक रजवाड़ा बन गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद मैसूर राज्य ने भारत में विलय कर लिया। भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन होने के बाद बम्बई प्रेसीडेंसी के कन्नड़भाषी क्षेत्रों को भी 1956 में इसमें शामिल कर दिया गया। दरअसल 1938 में ही बम्बई प्रेसीडेंसी की विधायिका यह प्रस्ताव पारित कर चुकी थी कि भविष्य में



कर्नाटक / स्थापना : एक नवम्बर, 1956

भाषाई राज्य के गठन होने पर इस प्रेसीडेंसी के कन्नड़भाषी क्षेत्रों को उस राज्य में मिला दिया जाएगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से लेकर 1983 तक राज्य में कांग्रेस का एक-छत्र राज्य रहा। इस दौरान के.सी. रेड्डी (25 अक्टूबर, 1947-30 मार्च, 1952), के. हनुमंतैया (30 मार्च, 1952-19 अगस्त, 1956), कादिलदल मंजप्पा (19 अगस्त, 1956-31 अक्टूबर, 1956), एस. निजलिंगप्पा (1 नवम्बर, 1956-16 मई, 1958; 21 जून, 1962-29 मई, 1968), बी.डी. जत्ती (16 मई, 1958-9 मार्च, 1962), एस.आर. कांथी (14 मार्च, 1962-20 जून, 1962), वीरेंद्र पाटिल (29 मई, 1968-18 मार्च, 1971) और देवराज अर्स (20 मार्च, 1972-31 दिसम्बर, 1977; 28 फ़रवरी, 1978-7 जनवरी, 1980) और आर. गुंडू राव (12 जनवरी, 1980-6 जनवरी, 1983) राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इन नेताओं में से सिर्फ़ एस. निजलिंगप्पा और देवराज अर्स ही अपनी पाँच साल की अवधि पूरी कर पाये या उससे ज्यादा समय तक मुख्यमंत्री रह

सके। इससे पता चलता है कि इस दौर की राजनीति में कांग्रेस के केंद्रीय नेतृत्व की पकड़ कितनी जोरदार थी। इन वर्षों में कर्नाटक के कई नेताओं ने केंद्र की राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बी.डी. जत्ती भारत के उपराष्ट्रपति बने, निजलिंगप्पा ने कांग्रेस (संगठन) के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और देवराज अर्स भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने। इन वर्षों में कांग्रेस के वर्चस्व का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 1977 में आपातकाल के बाद हुए चुनावों में जहाँ उत्तर भारत में कांग्रेस का सूफ़ड़ा साफ़ हो गया था, वही कर्नाटक में कांग्रेस ने पहले की तरह ही जीत हासिल की। 1978 में इंदिरा गाँधी ने कर्नाटक के चिकमगलूर से लोकसभा का उपचुनाव जीता और एक तरह से इस जीत ने केंद्र की राजनीति में उनकी वापसी का रास्ता भी साफ़ किया।

कांग्रेस के वर्चस्व को 1983 के चुनावों में ज़बरदस्त चुनौती मिली। इससे पहले भी कांग्रेस (संगठन) के गठन और राज्य की राजनीति में लोहियावादी समाजवादियों की सक्रियता ने विपक्षी दलों को एक मज़बूत आधार दिया था। लेकिन यह आधार इतना व्यापक नहीं था कि कांग्रेस को सत्ता से बेदख़ल कर दे। लेकिन 1980-83 के दौरान राज्य के मुख्यमंत्री रहे आर. गुंडू राव के शासन की अलोकप्रियता ने विपक्षी दलों को उभर कर सामने आने का मौक़ा दिया। 1983 के विधान सभा चुनावों के बाद जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में सामने आयी और इसके नेता रामकृष्ण हेगड़े ने भाजपा और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन से सकार बनायी। 1984 के लोकसभा चुनावों में अपनी पार्टी की हार की नैतिक ज़िम्मेदारी लेते हुए हेगड़े ने इस्तीफ़ा दे दिया। लेकिन इसके बाद 1985 में हुए विधानसभा चुनावों में इनकी पार्टी को पूर्ण बहुमत मिला और वे फिर से मुख्यमंत्री बने। 1988 में भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरे होने के कारण उन्हें इस्तीफ़ा देना पड़ा और उनकी जगह उन्हीं की पार्टी के एस.आर. बोम्मई मुख्यमंत्री बने। 1989 में केंद्र सरकारों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 356 के मनमाने प्रयोग पर रोक लगी और भारत ज़्यादा संघीकरण की ओर बढ़ा। इस दूसरे दौर की विशेषता यह थी कि पहली बार कर्नाटक में गैर-कांग्रेसी सरकार गठित हुई और 1984 में एक गैर-कांग्रेसी दल को पूर्ण बहुमत मिला। नवम्बर 1989 के बाद हुए चुनावों में फिर से कांग्रेस की वापसी हुई, लेकिन यह पूरी तरह से स्पष्ट हो गया कि राज्य की राजनीति से कांग्रेस के इकतरफ़ा वर्चस्व की विदाई

हो चुकी है।

1989 के बाद के दौर में कर्नाटक की राजनीति की मुख्य विशेषताओं को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है : पहला, यद्यपि राज्य में कांग्रेस का पहले की तरह वर्चस्व नहीं रहा, लेकिन इसे 1989 के बाद उसे वहाँ चार बार (1989-1994; 1999-2004; 2004-2006, 2013) अपनी सरकार बनाने का मौक़ा मिला। दरअसल, वर्चस्व ख़त्म हो जाने के बावजूद कांग्रेस इस राज्य की सबसे बड़ी पार्टी है। इस दौर में कांग्रेस ने कई मुख्यमंत्रियों को बदला। मुख्यमंत्रियों में इस बदलाव का कारण यह भी था कि कांग्रेस का केंद्रीय नेतृत्व मज़बूत नहीं था। इसका कारण यह था कि क्षेत्रीय नेता गुटबाजी द्वारा अपने हितों को पूरा करने की कोशिश करते थे। दूसरी बार कांग्रेस ने एस.एम. कृष्णा को मुख्यमंत्री बनाया और उन्होंने मुख्यमंत्री के रूप में अपना कार्यकाल पूरा किया। लेकिन 2004 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा और इसे सिर्फ़ 65 सीटों पर जीत मिली। एच.डी. देवेगौड़ा के नेतृत्व वाले जनता दल (सेकुलर) से मिलकर सरकार बनायी। इसमें कुछ समय तक कांग्रेस नेता धरम सिंह (28 मई, 2004-28 जनवरी, 2006) भी मुख्यमंत्री रहे। लेकिन बाद में जनता दल (सेकुलर) और भाजपा में गठबंधन हो जाने के बाद यह सरकार गिर गयी। 2008 के विधानसभा चुनावों में भी कांग्रेस को अस्सी सीटों पर ही जीत मिली। लेकिन 2013 में उसे पूर्ण बहुमत मिला। इस जीत में भाजपा की विफल सरकार और उसमें हुए विभाजन ने प्रमुख भूमिका निभायी।

दूसरा, 1980 के दशक में स्थापित गैर-कांग्रेसी जनता पार्टी राजनीति की धारा नब्बे के दशक में भी राज्य में मौजूद रही। 1994 के चुनावों के बाद जनता दल को जीत मिली और एच.डी. देवेगौड़ा को संयुक्त मोर्चे की सरकार का नेतृत्व करने का मौक़ा मिला। इस तरह देवेगौड़ा कर्नाटक के ऐसे पहले व्यक्ति बन गये जिन्होंने प्रधानमंत्री का पद संभाला। देवेगौड़ा के बाद जे.एच. पटेल राज्य के मुख्यमंत्री बने। लेकिन 1999 के चुनावों में पार्टी को हार का सामना करना पड़ा और इसके बाद यह पार्टी विभाजित भी हो गयी। पहले रामकृष्ण हेगड़े को जनता दल से निष्कासित कर दिया गया था और उन्होंने लोकशक्ति पार्टी बनायी थी। इसके बाद, जुलाई, 1999 में एच.डी. देवेगौड़ा ने जनता दल (सेकुलर) का गठन किया। इसके बाद राज्य में जनता दल की विरासत को क़ायम रखने वाली प्रमुख पार्टी यही रही है। 2006 में इसने भाजपा से गठबंधन क़ायम किया। देवेगौड़ा के बेटे एच.डी. कुमारस्वामी (3 फ़रवरी, 2006-8 अक्टूबर, 2007) राज्य के मुख्यमंत्री बने। लेकिन 2008 के चुनावों में इस पार्टी को सिर्फ़ 28 सीटों पर ही जीत मिली।

तीसरा, कर्नाटक में भारतीय जनता पार्टी का उभार भी

एक प्रमुख राजनीतिक घटना है। यदि हम 1989 के बाद होने वाले विधानसभा चुनावों पर नज़र डालें तो भाजपा के आधार में विस्तार को देख सकते हैं। 1989 में चार, 1994 में 40, 1999 में 44, 2004 में भाजपा को 79, 2008 में 110 सीटों पर जीत मिली। सबसे पहले भाजपा ने 2006 में जनता दल (सेकुलर) के साथ मिलकर सरकार बनायी। इसमें बी.एस. येदुरप्पा राज्य के उप-मुख्यमंत्री बने। असल में, भाजपा और जद (सेकुलर) के बीच डेढ़-डेढ़ साल तक मुख्यमंत्री रखने का समझौता हुआ था। लेकिन जद (सेकुलर) के एच.डी. कुमारस्वामी ने अपना कार्यकाल पूरा होने के बाद भाजपा को समर्थन देने से इनकार कर दिया। इसलिए येदुरप्पा के नेतृत्व वाली सरकार कुछ समय तक ही चल पायी (12 नवम्बर, 2007-19 नवम्बर, 2007)। इसके कारण राज्य में कुछ समय (नवम्बर, 2007-मई, 2008) तक राष्ट्रपति शासन रहा। इसके बाद 2008 के चुनावों में भाजपा को जीत मिली। हालाँकि भाजपा को पूर्ण बहुमत नहीं मिला, पर येदुरप्पा को मुख्यमंत्री बनने का मौक़ा मिला। समझा गया कि मुख्य रूप से उत्तर और मध्य भारत की पार्टी भाजपा की दक्षिण भारत पर यह पहली दस्तक है। लेकिन अवैध खनन के मामले में कर्नाटक के लोकायुक्त द्वारा दोषी बताये जाने के कारण येदुरप्पा को 31 जुलाई, 2011 को इस्तीफ़ा देना पड़ा। इसके बाद सदानंद गौड़ा राज्य के मुख्यमंत्री बने। दरअसल, कर्नाटक में भाजपा का उभार पार्टी की लगातार सक्रियता और जुझारू राजनीति का नतीजा था। तटवर्ती इलाक़ों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रभाव में हुए प्रसार का भी भाजपा को लाभ मिला। कुल मिला कर यह नहीं कहा जा सकता है कि राज्य की राजनीति पर मंदिर मुद्दे या साम्प्रदायिक राजनीति का बहुत ज़्यादा जोर रहा है। लेकिन यह भी सच है कि सत्ता में आने के बाद भाजपा एक वैकल्पिक और बेहतर प्रशासन देने में सफल नहीं हो पायी। इसके नेताओं पर भी भ्रष्टाचार के गहरे आरोप लगे हैं। इसी के परिणामस्वरूप 2013 में हुए चुनावों में भाजपा का सूपड़ा साफ़ हो गया, और राष्ट्रीय राजनीति में धक्के का सामना करने के बावजूद कांग्रेस को पूर्ण बहुमत मिला। राज्य की बागडोर जनता दल की राजनीति से निकले पिछड़े वर्ग के लोकप्रिय नेता सिद्धरमैया को मिली।

1989 की तुलना में अब राज्य की राजनीति ज़्यादा स्पष्ट रूप से त्रिकोणीय हो गयी है। राज्य में कई छोटे दल भी मौजूद हैं लेकिन वे राज्य की राजनीति को गहराई से प्रभावित नहीं करते। कर्नाटक की राजनीति में भी कई मायनों में राष्ट्रीय राजनीति की प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। यहाँ भी बहुत ज़्यादा भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार मौजूद है। इस राज्य ने खुले रूप से उदारीकरण की नीतियों को अपनाया, लेकिन इक्का-दुक्का शहरों के अलावा इसका कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं दिखता है। अवैध खनन और संसाधनों की लूट बढ़ी है। कांग्रेस का वर्चस्व ख़त्म होने के बाद कर्नाटक में लोगों के पास राजनीति

विकल्प बढ़े हैं। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि कांग्रेस समेत कोई भी दल वैकल्पिक विकास या राजनीति का कोई श्रेयस्कर मॉडल पेश कर पाया है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, केरल, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, बिहार, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. संदीप शास्त्री और हरीश रामास्वामी (2009), 'कर्नाटक : साइमलटेनियस पोलिस, डिफ्रेंट रिजल्ट्स' संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पादक), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस 2004 ऐंड बियांड*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. पी.आर. देसाई (1970), *हिस्ट्री ऑफ़ कर्नाटक*, कन्नड़ रिसर्च इंस्टीट्यूट, धारवाड़.
3. के.एच. चेलुवराजू, आर.एल.एम. पाटील, संदीप शास्त्री, और एम.जे. विनोद (1989), *कर्नाटक एसेम्बली इलेक्शंस 1983 : अ पोस्ट-इलेक्शन सर्वे*, डिपार्टमेंट आफ़ पॉलिटिकल साइंस, बंगलुरु.

— कमल नयन चौबे

कपूर्री ठाकुर

(Karpoori Thakur)

बिहार की राजनीति में गाँधीवादी समाजवाद, पिछड़े वर्ग की राजनीति और सामाजिक न्याय के वैचारिक मिश्रण को व्यावहारिक सफलता के शिखर तक पहुँचाने का श्रेय स्वतंत्रता सेनानी और समाजवादी नेता कपूर्री ठाकुर (1924-1988) को जाता है। अपने लम्बे राजनीतिक जीवन में कपूर्री ठाकुर को पारदर्शिता, कर्मठता, ईमानदारी और सामाजिक एकता के प्रति गहरी संवेदनशीलता के लिए हमेशा याद किया जाएगा। इस लिहाज से वे केवल बिहार के ही नहीं, बल्कि समाजवादी धारा के सभी नेताओं और कार्यकर्ताओं के लिए प्रेरणास्रोत थे। मण्डल कमीशन की सिफ़ारिशों के बहुत पहले कपूर्री ठाकुर ने अपने मुख्यमंत्रित्व में बिहार के पिछड़े वर्गों को आरक्षण के लाभ दिलवाने का ऐतिहासिक क़दम उठाया। साथ ही उन्होंने बिहार में पंचायत चुनाव करवा कर राजनीति पर द्विज जातियों की जकड़ को कमज़ोर किया। मैट्रिक तक की शिक्षा निःशुल्क करके कपूर्री ठाकुर ने ग़रीब और

कमज़ोर जातियों में शिक्षा के प्रसार को उल्लेखनीय प्रोत्साहन दिया। दूरगामी प्रभाव वाली अपनी इन उपलब्धियों के बावजूद कपूर्री ठाकुर ने बिहार के द्विज समाज का आदर कभी नहीं खोया।

कपूर्री ठाकुर का जन्म 24 जनवरी, 1924 में बिहार के समस्तीपुर जिले के पितौँझिया गाँव के एक ग़रीब नाई परिवार में हुआ था। उनके पिता गोकुल ठाकुर बाल-दाढ़ी बनाने का जातिगत पेशा ही करते थे। कपूर्री का बचपन गाय चराने से शुरू हुआ। साथ ही नाई का पेशा भी सीखने लगे। उन दिनों नाई-कहार आदि दलित परिवारों में पढ़ाई-लिखाई की कोई परम्परा नहीं थी। इसलिए कपूर्री की शिक्षा के लिए उनके पिता ने सोचा भी नहीं। लेकिन कपूर्री के गाँव में शिक्षा देने के लिए उत्सुक अध्यापकों के आदेश पर गाँव के स्कूल न जाने वाले बच्चों को पकड़ कर कक्षा में ले जाने का चलन भी था। इसी के तहत एक अध्यापक के कहने पर कपूर्री को भी जबरन स्कूल ले जाया गया। उस समय वे गाय चरा रहे थे। लेकिन एक बार कक्षा में पहुँच जाने के बाद कपूर्री स्कूल में मन लगा कर पढ़े। हाईस्कूल के दौरान शहरी छात्रावास में रहते हुए उन्हें जीवन के नये अनुभव हुए। यहीं उनकी राजनीति की नींव पड़ी। यह बिहार में तीस का दशक था जब कांग्रेस के भीतर और बाहर विविध सामाजिक-राजनीतिक धाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा था। स्वतंत्रता आंदोलन जितना परिपक्व होता जा रहा था, ये धाराएँ भी उतनी ही ठोस शकल ले रही थीं। 1931 में सोशलिस्ट पार्टी बनी, जिसने 1934 में अखिल भारतीय रूप लिया। 1932 में ज़मींदारों की यूनाइटेड पार्टी गठित हुई। 1933 में त्रिवेणी संघ और जगजीवन राम के नेतृत्व में डिप्रेस्ड क्लासेज़ लीग बनी। 1934 में किसान सभा का प्रांतीय स्तर पर गठन हुआ जिसके शीर्ष पर सहजानंद सरस्वती की शिखरियत थी। कपूर्री ठाकुर सामाजिक-राजनीतिक बदलाव के इन आंदोलनों से अलग न रह सके। उन्होंने कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित छात्र संगठन स्टुडेंट फ़ेडरेशन में काम करना शुरू किया। 1938 में समस्तीपुर में उस समय के प्रसिद्ध नेता रामानंद मिश्र ने छात्रों की एक विशाल सभा की। छात्र प्रतिनिधि के रूप में जब कपूर्री ने भाषण दिया तो उनकी धाक जम गयी। कपूर्री का एक जुमला बहुत मशहूर हुआ, 'हमारे देश की आबादी इतनी अधिक है कि केवल थूक फेंक देने से ही अंग्रेज़ी राज बह जाएगा।' इस भाषण के लिए उन्हें एक दिन की जेल और पचास रुपये के जुर्माने की सज़ा सुनायी गयी। बाद में उनका कम्युनिस्ट पार्टी से मोहभंग हो गया और वे कांग्रेस के चवन्निया सदस्य बन गये। 1942 में जब गाँधी और कांग्रेस का भारत छोड़ो आंदोलन शुरू हुआ तब वे बीए के छात्र थे। कपूर्री ने छात्र आंदोलन की बागडोर सँभाली और दरभंगा में छात्रों का एक विशाल जुलूस निकाला जो बिहार में अगस्त



कर्पूरी ठाकुर (1924-1988)

क्रांति का सबसे बड़ा और ऐतिहासिक जुलूस था।

‘भारत छोड़ो’ आंदोलन के दौरान जब जय प्रकाश नारायण भूमिगत हो नेपाल के जंगलों में छुपे थे, तब कर्पूरी ठाकुर उन्हें तलाश करते-करते उन तक पहुँच गये थे। इस बीच उन्होंने गाँव में ही मिडिल स्कूल में प्रधानाध्यापक की नौकरी भी की और साथ में आजादी की लड़ाई में भी भाग लेते रहे। आजादी मिलने तक कई बार उनकी गिरफ्तारी हुई। 1947 के बाद वे बिहार में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी से निकले समाजवादी दल की प्रमुख हस्ती बन कर उभरे। उन्होंने जय प्रकाश नारायण, नरेंद्र देव और राम मनोहर लोहिया के साथ क्रदम से क्रदम मिला कर कांग्रेस के विपक्ष की भूमिका निभायी।

1952 में आजाद भारत में प्रथम आम चुनाव हुए। समाजवादी दल के चुनिंदा लोग ही जीत सके और उनमें ताजपुर विधान सभा क्षेत्र से कर्पूरी ठाकुर भी थे। कांग्रेस नेता श्रीकृष्ण सिंह बिहार के मुख्य मंत्री बने। बिहार में उस समय में सबसे कम उम्र के विधायक कर्पूरी ठाकुर थे। 1957 का चुनाव कर्पूरी ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के टिकट पर जीता। 1957 से 1962 तक उन्होंने राज्य में पार्टी संगठन को मजबूत करने में अपनी पूरी ताकत लगा दी। 1967 के चुनाव में कई राज्यों में कांग्रेस पार्टी पराजित हुई और इन प्रदेशों में पहली बार गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। यह गैर-कांग्रेसवाद की राजनीति थी जिसके शिखर पर लोहिया के साथ कर्पूरी ठाकुर भी थे।

लोहिया कर्पूरी ठाकुर को बिहार का मुख्यमंत्री बनाने के पक्ष में थे, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसा न हो सका। महामाया प्रसाद सिन्हा के नेतृत्व में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। कर्पूरी शिक्षा मंत्री के साथ उपमुख्यमंत्री भी बने। इसके बाद दिसम्बर, 1970 में जनसंघ के सहयोग से बिहार में मिली-जुली सरकार बनी। इसमें संगठन कांग्रेस, लोकतांत्रिक कांग्रेस, शोषित दल, भारतीय क्रांति दल, जनता तथा अन्य छोटी पार्टियाँ शामिल थीं। कर्पूरी ठाकुर मुख्यमंत्री बने। मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने बस्तियों-झोंपड़ियों में जाना शुरू किया।

1973 से बिहार में इंदिरा गाँधी के शासन के खिलाफ़ जनांदोलन पनपने लगा। कांग्रेस सरकार की ज्यादतियों के खिलाफ़ सबसे पहले कर्पूरी ने 7 मई, 1974 को विधायक पद से इस्तीफ़ा दिया। 25 जून, 1975 की रात पूरे देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गयी। विरोधी नेता जेल में डाल दिये गये। पर कर्पूरी भूमिगत हो गये और प्रतिरोध आंदोलन का संचालन करते रहे। आपातकाल उठने के बाद 1977 में आम चुनाव हुए। राजनीतिक मंच पर गैर-कांग्रेसी राजनीतिक विकल्प उभरा। कर्पूरी समस्तीपुर संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से पहली बार संसद में पहुँचे। फिर 22 जून, 1977 के विधान सभा चुनाव में कर्पूरी जी के नेतृत्व में बिहार विधान सभा में जनता पार्टी को बहुमत मिला। वे दूसरी बार बिहार के मुख्यमंत्री बने। 9 मार्च, 1978 को कर्पूरी मंत्रिमण्डल ने राज्य में पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण लागू करने का फैसला किया। द्विजों ने इसका बड़ा विरोध किया। उनका दूसरा महत्वपूर्ण क्रदम था प्रदेश में पंचायत चुनाव सम्पन्न कराना। यह क्रदम ग्रामीण सत्ता पर द्विजों के पारम्परिक वर्चस्व को तोड़ने में सहायक सिद्ध हुआ। उन्होंने मैट्रिक तक की शिक्षा निःशुल्क कर दी थी। बिहार जैसे राज्य में यह एक क्रांतिकारी क्रदम था। छोटे किसानों और अलाभकर जोतों पद से मालगुजारी हटा ली थी।

सामाजिक न्याय के विचार को धरती पर उतारने की रैडिकल कोशिशों में लगे रहने के बावजूद कर्पूरी ठाकुर को इस बात की चिंता थी कि इसके कारण सामाजिक एकता को ठेस नहीं लगनी चाहिए। हालाँकि वे मुख्यमंत्री बन गये थे, पर उनके पिता गाँव में नाईगीरी में ही लगे थे। एक बार बीमार होने पर जब उनके पिता ने हजामत बनाने से मना कर दिया तो उन्हें जर्मींदार के लठैतों द्वारा मारपीट का सामना करना पड़ा। पता लगते ही पुलिस ने जर्मींदार को गिरफ्तार कर लिया और उसकी पिटाई भी की। पता लगने पर कर्पूरी ने जर्मींदार को छोड़वाया और उस पर मुकदमा भी नहीं चलने दिया गया। इस घटना से आहत होकर तत्कालीन जिलाधिकारी ने मुख्यमंत्री से कहा कि यह आपका नहीं बल्कि पूरे सूबे का अपमान है। कर्पूरी का जवाब मार्मिक लेकिन यथार्थपरक था,

‘क्या कीजिएगा? एक मुख्यमंत्री के बाप को तो बचा लीजिएगा, किंतु देश के हजारों बापों के साथ जो हो रहा है, उसे कौन बचाएगा? गाली देना और मारना उनकी पुरानी पुश्तैनी आदत है और गाली सुनना तथा मार खाना हमारी आदतें। ये धीरे-धीरे जाएँगी।’

देखें : अबुल कलाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांशी राम, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, दादाभाई नौरोजी, नरेंद्र देव, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया, वल्लभभाई पटेल, विनायक दामोदर सावरकर, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

- हरिनारायण ठाकुर (2010), *दलित साहित्य का समाज शास्त्र*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.
- महेंद्र मधुव (2013), ‘त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति : जन-नायक कर्पूरी ठाकुर’, महात्मा फुले सत्य शोधक (हिंदी पाक्षिक), जोधपुर.
- प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत (2001), *बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
- सुरेंद्र किशोर (1989), ‘कर्पूरी ठाकुर स्मृति अंक’, *अवकाश*, अप्रैल (प्रथम).

— मोहन दास नैमिशराय

कल्पित समुदाय

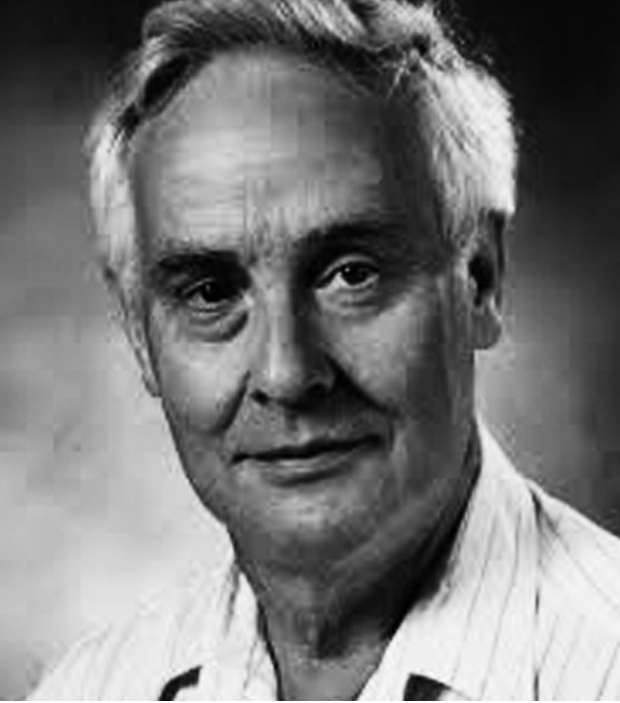
(Imagined Community)

राष्ट्र को एक कल्पित समुदाय के रूप में समझने का सिद्धांत बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1936-) की देन है। 1983 में प्रकाशित उनकी विख्यात पुस्तक *इमेजिंड कम्युनिटीज : रिफ्लेक्शंस ऑन द ओरिजिंस ऐंड स्प्रेड ऑफ नैशनलिज़म* में इसका विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। अपनी इस रचना में ऐंडरसन राष्ट्र की अवधारणा पर विचार करते हुए सामूहिक कल्पनाशीलता की उस ऐतिहासिक प्रक्रिया पर रोशनी डालते हैं जिसके ज़रिये कल्पना के रंगों से राष्ट्रत्व की रचना की जाती है। उनका आग्रह है कि राष्ट्र को सचेत रूप से ग्रहण की जाने वाली राजनीतिक विचारधाराओं के संदर्भ में समझने के बजाय पहले से मौजूद बृहत्तर सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। ऐंडरसन का मौलिक योगदान राष्ट्रवाद को उसके तीन विरोधाभासों के आईने में देखने से जुड़ा है। पहला विरोधाभास यह है कि इतिहासकार भले ही

राष्ट्र को आधुनिकता की देन मानते रहें, पर राष्ट्रवादी दृष्टि उसके अस्तित्व को हमेशा प्राचीनता से जोड़ती है। दूसरा विरोधाभास यह है कि एक सामाजिक-सांस्कृतिक विचार के तौर पर राष्ट्रीयता खुद को सार्वभौम मानती है, पर उसकी अभिव्यक्तियाँ पारिवेशिक होती हैं। तीसरा विरोधाभास राष्ट्रवाद की राजनीतिक शक्तिमत्ता और उसकी दार्शनिक दरिद्रता के बीच है।

ऐंडरसन का दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। उनके सिद्धांत की चर्चा से पहले ज़रूरी है कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद से संबंधित मार्क्सवादी मान्यता पर कुछ गौर कर लिया जाए। दुनिया भर के मज़दूरों को एक होने का नारा देने वाले मार्क्स और एंगेल्स मानते थे कि मज़दूरों का कोई देश नहीं होता। अपने लेखन में उन्होंने वर्ग-विभाजन के परे जा कर राजनीतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक एकता करने वाली किसी परिघटना को तरजीह नहीं दी। अपने युग के कुछ राष्ट्रीय संघर्षों के बारे में उनकी धारणा यह थी कि वे नष्ट हो जाने के लिए अभिशप्त हैं। उनकी रचनाएँ राष्ट्रवाद का कोई मुकम्मल सिद्धांत देने के बजाय अपने युग की व्यावहारिक राजनीति के तहत राष्ट्रीय प्रश्न पर विचार करती हैं। दूसरे और तीसरे इंटरनेशनल में राष्ट्रवाद पर काफ़ी बहस हुई। लेनिन ने एक विशाल बहुजातीय साम्राज्य में क्रांति करने की समस्याओं से जूझते हुए राजनीतिक लोकतंत्र की आवश्यकता को अपने राष्ट्रवाद संबंधी विश्लेषण के केंद्र में रखा। उनका निष्कर्ष था कि राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। इसके बाद स्तालिन की विख्यात रचना *मार्क्सिज़म ऐंड नैशनल क्वेश्चन* सामने आयी जिसमें उन्होंने राष्ट्रवाद की थियरी प्रतिपादित करने की कोशिश की। स्तालिन ने राष्ट्र के पाँच मुख्य तत्त्व बताये : एक स्थिर और नैरंतर्य से युक्त समुदाय, एक अलग भू-क्षेत्र, समान भाषा, आर्थिक सुसंगति और सामूहिक चरित्र। चूँकि स्तालिन राष्ट्रों के उभार को महज़ उद्योगीकरण की ज़रूरतों से जोड़ कर देख रहे थे इसलिए उनका सिद्धांत राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उससे उभरने वाले बहुत से प्रश्नों की उपेक्षा कर देता था। कुल मिला कर मार्क्सवादी मानते रहे कि राष्ट्रवाद पूँजीवाद के विकास में उसका सहयोगी बन कर उभरा है। इस लिहाज़ से उसे एक बूज़र्वा विचारधारा की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। राष्ट्रवाद प्रभुत्वशाली वर्गों को एकजुट करके राजनीतिक समुदाय की एक भ्रांत अनुभूति पैदा करता है ताकि पूँजीपतियों द्वारा किये जाने वाले अहर्निश शोषण और दरिद्रीकरण के बावजूद आम लोग धनी वर्ग के साथ एकता का एहसास करते रहें।

साठ के दशक के आखिरी वर्षों में होरेस बी. डेविस ने मार्क्सवादी तर्कों का सार-संकलन करते हुए राष्ट्रवाद के एक रूप को ज्ञानोदय से जोड़ कर बुद्धिसंगत क्रार दिया,



बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1936-)

और दूसरे रूप को संस्कृति और परम्परा से जोड़ कर भावनात्मक बताया। डेविस ने भी राष्ट्रवाद को एक औजार से ज्यादा अहमियत नहीं दी और कहा कि हथौड़े से हत्या भी की जा सकती है और निर्माण भी। राष्ट्रवाद के जरिये जब उत्पीड़ित समुदाय अपनी आजादी के लिए संघर्ष करते हैं तो वह एक सकारात्मक नैतिक शक्ति बन जाता है, और जब राष्ट्र के नाम पर आक्रमण की कार्रवाई की जाती है तो उसका नैतिक बचाव नहीं किया जा सकता।

जाहिर है कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद की ये मार्क्सवादी व्याख्याएँ सीमित क्रिस्म की थीं। इनके जरिये यह पता लगाना मुमकिन नहीं था कि जिस प्रवृत्ति को मार्क्स और एंगेल्स ह्रासमान मानते थे, वह बीसवीं सदी में मानवीय विकास को परिभाषित करने वाली शक्ति कैसे बन गयी। मार्क्सवादी विमर्श की इस खामी की भरपाई उस समय हुई जब बेनेडिक्ट ऐंडरसन ने इस बात पर मनन किया कि एक-दूसरे से कभी न मिलने वाले और एक-दूसरे से पूरी तरह अपरिचित लोग राष्ट्रीय एकता में किस तरह बँधे रहते हैं। उनसे पहले गैर-मार्क्सवादी खेमे के विद्वान अर्नेस्ट गेलनर कह चुके थे कि राष्ट्रवाद कोई ऐसी शै नहीं है जो राष्ट्रों को अपने होने के प्रति सचेत करती हो, बल्कि वह तो जहाँ राष्ट्र नहीं होते वहाँ उनका आविष्कार कर डालती है। गेलनर एक तरह से राष्ट्र के गढ़े जाने की तरफ संकेत कर रहे थे।

ऐंडरसन ने 'आविष्कार' और 'गढ़त' के इस सूत्रीकरण के परे जा कर यह देखने में कामयाबी हासिल की कि राष्ट्रवाद का उदय उस ज़माने में हुआ जब अस्मिता के

तीन स्थापित सांस्कृतिक आधारों की अहमियत गिर रही थी। अस्मिता का पहला आधार था धर्म। मध्य युग के बाद धर्म के महत्त्व में कमी आयी। प्रोटेस्टेंट सुधारों के तहत मानवता प्रलय के दिन का इंतज़ार करने के बजाय अपनी निरंतरता में विश्वास की तरफ बढ़ी। जादुई और पारलौकिक यथार्थ की जगह लौकिक यथार्थ ने लेनी शुरू की। जिन भाषाओं में धर्म-ग्रंथ लिखे गये थे, और जो पहले से स्थापित चली आ रही थीं, उनकी धार्मिक पवित्रता में लोगों का यक्रीन टूटा। उनकी निगाह में कोई खास लिपि पवित्र सत्तामूलक सत्य की वाहक नहीं रह गयी। दूसरा परिवर्तन सामंती कल्पनाशीलता के क्षय से जुड़ा था। सत्रहवीं सदी में दैवी मान्यता प्राप्त राजशाहियों की वैधता पहले जैसी नहीं रह गयी। लोग इस धारणा पर सवाल उठाने लगे कि समाज बड़े-बड़े केंद्रों (जैसे, रोम) के इर्द-गिर्द स्वाभाविक रूप से संयोजित हैं।

ऐंडरसन ने तीसरे परिवर्तन के तौर पर काल की अवधारणा में हुए बदलाव की शिनाख्त की। इस तीसरे परिवर्तन में ही ऐंडरसन के विमर्श की मौलिकता निहित है। काल की सामंती परिकल्पना में कॉस्मोलॉजी और इतिहास आपस में इस प्रकार गुँथे हुए थे कि दोनों को अलग-अलग देखना नामुमकिन था। इस काल-बोध में हुए परिवर्तन के कारण ही राष्ट्र के बारे में सोचना सम्भव हो पाया। आधुनिकता के पहले के ज़मानों में माना जाता था कि समक्षणिकता काल-प्रवाह के साथ-साथ चलती है, पर आधुनिकता के बाद समक्षणिकता का काल-प्रवाह के साथ संबंध क्रमशः बदला और घड़ियों और कैलेंडरों के मुताबिक काल की पैमाइश होने लगी। समाज और सामाजिक अस्तित्व को कैलेंडर के मुताबिक गति करते हुए समझने की शुरुआत हुई। दिक् और काल के इस नवीन निरूपण के बिना यह सोच पाना मुश्किल था कि कोई समुदाय इतिहास के फलक पर प्रगति करते हुए राष्ट्र कैसे बनता है।

ऐंडरसन के अनुसार इन तीनों परिवर्तनों ने मिल कर सामूहिक सांस्कृतिक चेतना के नये रूप के लिए रास्ता खोल दिया। उन्होंने यह भी बताया कि इस रूप ने राष्ट्रवाद की शक्ल-सूरत कैसे ग्रहण की। इसमें भूमिका रही पूँजीवाद के साथ उसकी अन्योन्यक्रिया की, मुद्रण प्रौद्योगिकी के प्रसार की और भाषाई विविधता की। पूँजीवाद ने पुस्तकों के बाज़ार का विस्तार किया जिससे भाषाओं का क्रांतिकारी देशीकरण हुआ। बाइबल विभिन्न भाषाओं में छपने और लोगों तक पहुँचने लगी। प्रशासनिक सुसंगतीकरण के लिए भी देशी भाषाओं का इस्तेमाल किया जाने लगा। मुद्रित भाषाओं ने विनिमय और संचार के एकीकृत दायरों की रचना की और नतीजतन राष्ट्रीय चेतना की नींव पड़ी।

यहीं सवाल उठता है कि क्या इक्कीसवीं सदी में दूर-संचार की नयी प्रौद्योगिकी के विकास में राष्ट्र संबंधी

कल्पनाशीलता के वैकल्पिक रूपों की सम्भावनाएँ निहित हैं ? क्या नयी संचार क्रांति दिक् और काल के समीकरण को फिर से नहीं बदल रही है ? ऐंडरसन मानते हैं कि इन प्रौद्योगिकियों ने दूरस्थ राष्ट्रवाद की परिघटना को जन्म दिया है। पश्चिम में रहने वाले जातीय अल्पसंख्यक अपने काल्पनिक गृह-देश के साथ आज पहले के मुकाबले कहीं अधिक शिद्ध के साथ जुड़ने में सक्षम हो गये हैं।

दिलचस्प बात यह है कि बेनेडिक्ट ऐंडरसन अपनी इस विख्यात थियरी के समाज-विज्ञानियों द्वारा किये जाने वाले इस्तेमाल से आजकल असहज हैं। भारत में हुए अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र सम्मेलन में विशिष्ट अतिथि के तौर पर भाषण देते हुए उन्होंने अपनी इस विख्यात कृति से खुद को दूर करने की कोशिश की। उनका कहना था कि उनके लिए यह पुस्तक एक ऐसी प्यारी बेटी की तरह है जो बस कंडेक्टर के साथ भाग गयी हो। इसका एक मतलब यह भी था कि ऐंडरसन ने इस पुस्तक का लेखन राष्ट्रवाद की ताकत दिखाने के लिए किया था, लेकिन मार्क्सवादी हल्कों में इसका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर राष्ट्रवाद की आलोचना के लिए होने लगा है जो कि ऐंडरसन का मकसद नहीं था।

देखें : आत्म-निर्णय, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, फ्रेड्रिख एंगेल्स, पार्थ चटर्जी, पृथकतावाद, व्लादिमिर इलीच लेनिन, वि-उपनिवेशीकरण, राष्ट्रवाद, राष्ट्र-राज्य, रामविलास शर्मा, साम्राज्यवाद, स्तालिन और स्तालिनवाद, संयुक्त राष्ट्र, हिंदी जाति-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983), *इमेजिंड कम्युनिटीज : रिफ्लेक्शंस ऑन द ओरिजन ऐंड स्प्रेड ऑफ नैशनलिज्म*, वरसो, लंदन.
2. होरेस बी. डेविस (1978), *टुवर्ड्स अ मार्क्सिस्ट थियरी ऑफ नैशनलिज्म*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. पार्थ चटर्जी (1986), *नैशनलिस्ट थॉट ऐंड द कोलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कॉर्स ?*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. जे.वी. स्तालिन (1983), *मार्क्सिज्म ऐंड नैशनल क्वेश्चन*, फ़ॉरेन लेंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को.
5. रोनाल्डो मंक (1986), *द डिफ़िकल्ट डायलॉग : मार्क्सिज्म ऐंड नैशनलिज्म*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

क्लासिकल अर्थशास्त्र

(Classical Economics)

क्लासिकल अर्थशास्त्र दार्शनिक रूप से स्कॉटिश ज्ञानोदय की देन है। इसके केंद्र में आर्थिक वृद्धि, बचत, श्रम का विभाजन और मूल्य जैसी आर्थिक धारणाएँ हैं। ऐडम स्मिथ स्कॉटिश ज्ञानोदय के प्रमुख चिंतक थे। उन्हीं की रचना *ऐन इनक्वारी इन टू द नेचर ऐंड कॉजेज़ ऑफ़ द वेल्थ ऑफ़ नेशंस* (1776) इस अर्थशास्त्र का आधार बनी। स्कॉटिश ज्ञानोदय के दौरान विकसित मानव प्रकृति की व्याख्याओं का सहारा लेकर स्मिथ ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य की बुनियादी प्रकृति अपनी खुशहाली के लिए प्रयास करना है, इसलिए वह लाजमी तौर पर आर्थिक बचत की कोशिश करेगा। बचायी गयी राशि का निवेश करने पर श्रम के विभाजन की सम्भावना पैदा होगी। ये दोनों प्रक्रियाएँ मिल कर उत्पादकता बढ़ाएँगी। ब्रिटिश आर्थिक विज्ञान में इन सिद्धांतों का बोलबाला 1750 से 1870 तक रहा। डेविड रिकार्डो, रॉबर्ट माल्थस, नसाड जूनियर, जॉन स्टुअर्ट मिल और कार्ल मार्क्स को क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की श्रेणी में माना जाता है।

स्मिथ द्वारा विकसित इस बुनियादी विचार को अपनाने के बावजूद अधिकतर क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को यह अंदेशा सताता रहा कि एक न एक दिन आर्थिक वृद्धि का सिलसिला खत्म हो जाएगा। इस सवाल को लेकर उनके बीच बहस भी रही। खासकर मार्क्स ने स्मिथ और रिकार्डो द्वारा दी गयी कई सीखों के प्रति प्रशंसा और आलोचना का मिला-जुला दृष्टिकोण अपनाया। दूसरी तरफ़ जॉन स्टुअर्ट मिल की मान्यता थी कि अर्थव्यवस्था में हमेशा उछाल का मौसम नहीं भी रह सकता है। अपनी जगह स्थिर अर्थव्यवस्था की धीमी गति को भी सकारात्मक निगाह से देखा जाना चाहिए, बशर्ते उसमें आमदनी का बँटवारा ठीक से किया गया हो।

स्मिथ के बाद क्लासिकल अर्थशास्त्र के दूसरे महत्वपूर्ण हस्ताक्षर डेविड रिकार्डो ने 1817 में *प्रिंसिपल ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऐंड टैक्सेशन* के जरिये वेतन के साथ मूल्य को संबंधित करके अर्थव्यवस्था के एक अमूर्त मॉडल की रचना की। माल्थस ने *ऐसे ऑन द प्रिंसिपल ऑफ़ पाप्युलेशन* (1798) और *प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* (1820) में जोर दे कर कहा कि अगर आबादी बेरोकटोक बढ़ती चली गयी तो उसके लिए पेट भरने का संकट पैदा हो जाएगा। माल्थस की दूसरी उपलब्धि थी कम रोज़गार मुहैया कराने वाली अर्थव्यवस्थाओं को दिया गया यह सुझाव कि सरकार को ऐसी सार्वजनिक निर्माण परियोजनाएँ चलानी चाहिए जिनसे

लोगों को ज्यादा से ज्यादा रोजगार मिल सके। माल्थस के इस विचार ने आगे चल कर जॉन मेनार्ड कीस के लिए लोकोपकारी अर्थव्यवस्था की धारणा सूत्रबद्ध करने का रास्ता खोला। माल्थस ने अपनी रचनाओं में माँग और आपूर्ति की तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट विवेचन किया। नसाउ सीनियर के मूल्य-सिद्धांत के अनुसार उपयोगिता के अनुपात में ही वस्तुओं का विनिमय होता है।

क्लासिकल अर्थशास्त्र मूल्य सिद्धांत के संबंध में तीन तरह के प्रश्न पूछता है : मूल्य की प्रकृति क्या है, मूल्य को कैसे नापा जाए और मूल्य के निर्धारक तत्त्व क्या हैं? क्लासिकल अर्थशास्त्र प्रयोग के संदर्भ में मूल्य और विनिमय के संदर्भ में मूल्य के बीच फ़र्क करता है। ऐडम स्मिथ ने उत्पादन की लागत के आधार पर गणना करके निकाले गये स्वाभाविक दामों और माँग-आपूर्ति के आधार पर बाज़ार द्वारा तय किये गये दामों में भी फ़र्क किया। इस सिद्धांत के मुताबिक स्वाभाविक दाम एक तरह के केंद्रीय संतुलन की भूमिका निभाते हैं जिसके इर्द-गिर्द बाज़ार के दामों में उतार-चढ़ाव होता रहता है। बाद में रिकार्डों ने स्मिथ द्वारा श्रम और मूल्य के संबंध की इस चर्चा को और परिष्कृत करते हुए श्रम और मूल्य के रिश्ते को सापेक्षिक दामों के सिद्धांत में विकसित किया। इन दामों का निर्धारण करने के लिए उन्होंने सापेक्षिक श्रम की मात्रा को आधार बनाया। मार्क्स ने रिकार्डों द्वारा प्रतिपादित मूल्य सिद्धांत का विस्तार करते हुए श्रम को मूल्य का आधार बताया। क्लासिकल अर्थशास्त्र ने राष्ट्रीय आमदनी, वेतन, मुनाफ़े और लगान पर भी पर्याप्त रूप से ध्यान दिया। रिकार्डों द्वारा रचे गये अर्थव्यवस्था के अमूर्त मॉडल में खेतिहर मामलों पर लिखने वाले स्कॉटिश विद्वान जेम्स ऐंडरसन का भी योगदान था। ऐंडरसन ने अलग-अलग लगान तय करने का सुझाव दिया था जिसे रिकार्डों ने आधार स्तम्भ के रूप में अपनाया। इसका मतलब था सबसे घटिया क्रिस्म के भू-खण्ड पर खेती से होने वाली फ़सल किसी भी तरह का लगान वसूलने का आधार नहीं हो सकती। इस परिस्थिति में लगान का आधार खेती में लगने वाला श्रम होना चाहिए। सबसे अच्छी और मध्यम स्तर की ज़मीन पर खेती से सबसे ज्यादा मुनाफ़ा कमाया जा सकता है। लगान की विभेदित दरों के जरिये रिकार्डों इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मज़दूरी और मुनाफ़े में विपरीत संबंध होता है। यानी श्रम की वास्तविक दर बढ़ने का मतलब है मुनाफ़े में उसी के मुताबिक गिरावट। रिकार्डों का यह विचार मज़दूरी करने और करवाने वाले के बीच अंतर्विरोध की जानकारी देता है।

आर्थिक संख्याओं में होने वाली छोटी-छोटी बढ़ोतरियों के आधार पर रिकार्डों ने आर्थिक प्रक्रियाओं का जो विश्लेषण किया, उसने आगे चल कर सीमांतिय सिद्धांत (मार्जिनल थियरी) की नींव डाली। इस सिद्धांत ने

क्लासिकल अर्थशास्त्र की आधारभूत अवधारणाओं के नियोक्लासिकल दायरे में सूत्रीकरण का रास्ता खोला।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मज़दूरी या वेतन के प्रश्न पर भी समष्टिगत और व्यष्टिगत चर्चा की। स्मिथ ने वेतन देने के लिए एक सम्पूर्ण कोष की सिफ़ारिश की ताकि उसका इस्तेमाल उत्पादन की पूरी अवधि में मज़दूरों को वेतन देने के लिए किया जा सके। क्लासिकल अर्थशास्त्र ने प्रत्येक श्रमिक में अंतर्निहित अमूर्त मानवीय पूँजी की मात्रा को मिलाते हुए वेतन की ऊँच-नीच को भी न्यायसंगत ठहराने की कोशिश की। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुक्त बाज़ार की वकालत उस ज़माने में की जब वणिक्वादी अर्थव्यवस्था की मज़बूती के लिए संरक्षणवाद पर जोर दे रहे थे। इस मामले में वे प्रकृतिवाद दार्शनिकों के साथ थे। लेकिन फ़र्क यह था कि प्रकृतिवादी खेती से जुड़ी गतिविधियों को ही सारी समृद्धि का स्रोत मानते थे, जबकि क्लासिकल अर्थशास्त्र के संस्थापक समृद्धि को औद्योगिक श्रम के दायरे में कल्पित करने में लगे हुए थे। उनकी निगाह और भी आगे जा कर श्रम विभाजन के लाभों को अधिकाधिक करने पर टिकी थी, इसलिए उन्होंने एक अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की भी कल्पना की। स्मिथ ने तर्क दिया कि एक देश उत्पादन के मुकाबले में अगर लाभ की स्थिति में है तो व्यापार अनिवार्य तौर पर होगा। इसी के आधार पर रिकार्डों और रॉबर्ट टोरेंस ने वाणिज्य के सापेक्षिक लाभ का सिद्धांत प्रतिपादित किया। मिल ने इसी को और सुधारते हुए वाणिज्य की शर्तों का निर्धारण करने के लिए परस्पर माँग की धारणा का इस्तेमाल किया।

ध्यान रहे कि स्मिथ के अनुयायी उस युग में अपनी धारणाएँ सूत्रबद्ध कर रहे थे जब फ़्रांस के साथ लम्बे युद्ध के कारण ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था 1815 के बाद ज़बरदस्त मंदी का सामना कर रही थी। युद्ध के खर्च की पूर्ति के लिए टैक्स पूरा नहीं लगाया गया था इसलिए राष्ट्रीय ऋण में बेहद बढ़ोतरी हो गयी थी। स्वर्ण कोष में कमी आने के कारण बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड स्वर्ण मानक छोड़ चुका था। इस परिस्थिति में क्रागजी मुद्रा की प्रकृति और मुख्य सरकारी बैंक के रूप में बैंक और इंग्लैण्ड की भूमिका पर बहस चलती रही। इस दौरान स्मिथ के संबंधित विचारों का हवाला दिया गया और रिकार्डों के इस सिद्धांत का भी ज़िक्र हुआ कि मुद्रा को अर्थव्यवस्था में मौजूद कीमती धातुओं की मात्रा के मुताबिक ऊपर-नीचे होते रहना होगा। स्मिथ द्वारा बताये गये रास्ते पर चलते हुए क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय सरकारों की भूमिका प्रतिरक्षा, क़ानून और व्यवस्था तक ही सीमित रखने की पैरोकारी की। उनकी मान्यता थी जन-हित के लिए किसी विशेष नियोजित प्रयास की आवश्यकता नहीं है। स्व-हित साधने के लिए अदृश्य हाथ के रूप में बाज़ार की ताकतें आर्थिक एजेंटों का मार्ग-

निर्देशन करेंगी और कुल मिला कर समाज को लाभ पहुँचेगा। स्मिथ ने आर्थिक कल्याण को भौतिक संदर्भ में देखा और अपेक्षा की कि श्रम के विभाजन से प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी क्रिस्म के विशेषज्ञ में बदल जाएगा और नतीजे के तौर पर पूरे समाज की आमदनी बढ़ जाएगी।

क्लासिकल अर्थशास्त्र द्वारा दी गयी मुक्त बाजार की इस थीसिस में कुछ अपवादों का प्रावधान भी है। वे सरकार द्वारा ऐसे कानून बनाने के पक्ष में थे जिनसे राष्ट्र की प्रतिरक्षा मजबूत हो और बैंकिंग प्रणाली के लिए नकदी की स्थिति में सुधार हो सके। मिल के विचारों में समाजवादी रुझान भी देखे जा सकते हैं। वे सार्वजनिक स्वामित्व को भी हमदर्दी की निगाह से देखते थे। लेकिन क्लासिकल अर्थशास्त्री ऐसे तमाम कानूनों के खिलाफ़ थे जिनके कारण मजदूरों द्वारा किये जाने वाले श्रम के घंटे धीरे-धीरे कम हो रहे थे और स्त्रियों व बच्चों से श्रम करवाने की प्रवृत्ति घट रही थी।

1870 तक आते-आते क्लासिकल अर्थशास्त्र का प्रभाव कम हो गया। उसकी जगह नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र ने ले ली। डब्ल्यू.एस. जेवंस और ख़ासकर अल्फ्रेड मार्शल के सिद्धांतों का बोलबाला हो गया। यह अलग बात है कि क्लासिकल अर्थशास्त्र के कई सिद्धांतों और आग्रहों की अहमियत उसका प्रभुत्व घटने के बाद भी बनी रही।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कोस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख़ वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाजार, बाजार की विफलताएँ, बाजार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. ए.वी. एनीकिन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवा काल : मार्क्स-पूर्व का राजनीतिक अर्थशास्त्र*, अनु. गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

2. डब्ल्यू. एल्टस (1984), *द क्लासिकल थियरी ऑफ़ इकॉनॉमिक ग्रोथ*, मैकमिलन, लंदन।
3. एल. होलेंडर (1987), *क्लासिकल इकॉनॉमिक्स*, ऑक्सफ़र्ड, ब्लैकवेल, लंदन।
4. डी.पी. ओब्राइन (2004), *द क्लासिकल इकॉनॉमिस्ट रिविज़िटेड*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन. एनजे.

— अभय कुमार दुबे

कल्याणकारी अर्थशास्त्र

(Welfare Economics)

व्यक्तियों और समाज के हित साधने के लिए किये जाने वाले आर्थिक अध्ययन कल्याणकारी अर्थशास्त्र की श्रेणी में आते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्र के ज़माने में आर्थिक गतिविधियों का मतलब था वस्तुओं का उत्पादन, न कि सेवाओं का। इसलिए कल्याण का स्तर भौतिक अर्थों में नापा जाता था। लेकिन धीरे-धीरे आर्थिक गतिविधियों का मतलब सुविधाओं के उत्पादन से लगाया जाने लगा। इसी के साथ व्यक्तिगत स्तर पर लोगों को आम्बटित सुविधाओं के आधार पर उनके संतोष और उपयोगिता की मात्रा का पता लगाया जाने लगा। व्यक्तियों को दी जाने वाली सुविधाओं का असर आमदनी के सामाजिक वितरण पर पड़ना लाज़मी था। इस तरह से व्यक्ति के कल्याण को समाज के कल्याण के माध्यम से देखने का चलन हुआ। कल्याणकारी अर्थशास्त्र का सरोकार समाज के अधिकतम या न्यूनतम कल्याण से है। वह देखता है कि समाज के कल्याण के लिए अनुकूलतम परिस्थितियों का सृजन कैसे किया जा सकता है। यह अर्थशास्त्र इस सवाल का सामना भी करता है कि क्या ये परिस्थितियाँ पूर्ण प्रतियोगिता की देन हैं, और विभिन्न आर्थिक प्रणालियों व नीतियों के तहत समाज का कल्याण कैसे उपलब्ध किया जा सकता है।

ऐडम स्मिथ ने आर्थिक कल्याण की मात्रा नापने के लिए अपनी रचना *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* में प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद की अवधारणा पेश की थी। इसके आधार पर राष्ट्रीय आमदनी के आँकड़े धीरे-धीरे परिष्कृत किये जाने लगे ताकि उत्पादन, उसकी संरचना और उसकी आधारभूत परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त की जा सके।

इसके बाद नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र ने भी कल्याणकारी अर्थशास्त्र पर गौर किया। 1920 में आर्थर सेसिल पिगू (1877-1959) की रचना *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ वेल्फ़ेयर* का प्रकाशन हुआ जिसमें मौद्रिक रूप से नापे जा सकने वाले आर्थिक कल्याण को सम्पूर्ण कल्याण के एक



आर्थर सेसिल पिगू (1877-1959)

घटक के रूप में देखा गया। पिगू ने सकल उत्पादन की प्रकृति पर विचार करते हुए उसे राष्ट्रीय लाभांश की संज्ञा दी। उन्होंने सीमांत (यानी छोटे-छोटे) क्रिस्म के निजी और सामाजिक उत्पादों के लिए संसाधनों के इस्तेमाल पर एक-दूसरे के बरक्स विचार किया और पता लगाने की कोशिश की कि इन दोनों को बराबर कैसे किया जा सकता है। उन्होंने देखा कि जो लाभ मजदूरों को मिलना चाहिए वह भूमि और पूँजी के मालिकों को मिलने के कारण निजी और सामाजिक उत्पादों के वितरण में असामानता पैदा हो जाती है। नतीजतन उन्होंने अमीर की कुछ आमदनी गरीब को देने की सिफारिश की और सुझाव दिया कि आबादी के सभी सदस्यों के लिए एक न्यूनतम स्तर की आमदनी सुनिश्चित की जानी चाहिए। पिगू ने कल्याण से संबंधित अधिकतर समस्याओं की शिनाख्त श्रम बाजार के तौर-तरीकों में की। वे मान कर चले कि सीमांत सुविधाओं में हास के नियम के मुताबिक गिरावट हो रही है और इसके कारण हो रहे पुनर्वितरण के कारण जो लोग घाटे में हैं उनकी भरपाई की जानी चाहिए। पिगू की योजना में ऐसी सीमांत विधियों के इस्तेमाल की सिफारिश भी थी जिनसे अनुकूलतम परिस्थितियाँ बन सकें। इन परिस्थितियों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के समस्त संसाधनों का इस तरह पुनः आबंटन करना चाहिए कि सीमांत उत्पाद के संदर्भ में बराबरी हासिल हो सके।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र के लिए विलफ्रेडो परेटो द्वारा प्रतिपादित अनुकूलतम परिस्थिति का सिद्धांत महत्वपूर्ण है।

इसके मुताबिक बिना किसी का नुकसान किये अगर हर व्यक्ति की बेहतरी हो सके तो आर्थिक कल्याण में सुधार हो सकता है। यह अनुकूलतम परिस्थिति पैदा हो सके इसलिए लाजमी समझा गया कि उपभोक्ताओं के स्तर पर जिस सीमांत दर से उपभोग में प्रतिस्थापन हो, उसी सीमांत दर से उत्पादक अपने उत्पादन में तब्दीली करें। परेटो के अनुसार केवल ऐसा होने पर ही सभी उत्पादन प्रक्रियाओं की सीमांत लागत सीमांत आमदनी के बराबर हो सकती है।

आमदनी के पुनर्वितरण के दौरान घाटे में रह जाने वाले लोगों की भरपाई के सुझाव पर कल्याणकारी अर्थशास्त्र के मैदान में जम कर बहस हुई। काल्डोर और हिक्स ने भरपाई के सिद्धांत की तकनीकी परीक्षा करते हुए निष्कर्ष निकाला कि अगर व्यवस्था खुशहाल लोगों को बदहाल लोगों की भरपाई करने की इजाजत दे तो सामाजिक कल्याण में बढ़ोतरी हो सकती है। हिक्स ने यह सुझाव भी दिया कि उन फ़र्मों के नुकसान की भरपाई की जानी चाहिए जो प्रतियोगिता की असमतल स्थितियों के कारण नुकसान की स्थिति में चली जाती हैं। जो उत्पादक अतिरिक्त मूल्य कमा रहा है, उसे घाटे में रहने वाले उत्पादक की भरपाई करनी चाहिए।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र का दार्शनिक ताल्लुक जेरेमी बेंथम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद से भी है। यह दर्शन कल्याण की समता पर विचार करता है। बेंथम कल्याण को सुख के रूप में देखते हैं जो किसी के जीवन में पीड़ा के ऊपर आनंद के अधिशेष के रूप में परिभाषित होता है। आजकल सुख की परिभाषा नये तरीके से दी जाने लगी है। इसके मुताबिक हर किसी के जीवन पर कल्याण का कम या ज्यादा प्रभाव होता है, और उसी के मुताबिक उसकी कामनाएँ और प्राथमिकताएँ संतुष्ट हो पाती हैं। उसी हिसाब से वह अपने जीवन को बेहतर और कमतर मानता है। इस लिहाज से जो समाज कल्याण के समान वितरण में यकीन करेगा, वह इस बात की चिंता नहीं करेगा कि व्यक्तिगत रूप से लोगों को कितने संसाधन मिल रहे हैं और उनके आधार पर लोग अपनी प्राथमिकताओं की कितनी पूर्ति कर पा रहे हैं। लेकिन, अगर कल्याण को प्राथमिकताओं का पर्याय मान लिया जाएगा तो उस लिहाज से किया गया वितरण संसाधनों की विषमता को जन्म देगा। ऐसा समाज मानेगा कि महँगी कार चलाने वाले और साइकिल पर चलने वाले का कल्याण समान रूप से हो रहा है। परिणामस्वरूप विवाद पैदा होगा कि महँगी कार का शौक रखने वाले का खर्च समाज को क्यों उठाना चाहिए? इसी तरह समाज के संसाधनों को एक जुआरी के जोखिम की भरपाई करने का आश्वासन क्यों देना चाहिए, और कार मैकेनिक बनने की इच्छा रखने वाले प्रशिक्षण पर होने वाला अपेक्षाकृत कम खर्च उठाने पर जोर क्यों नहीं देना चाहिए? जाहिर है कि इस प्रकार के कल्याण की परिभाषा समता

न्याय, आत्म-सम्मान और भाईचारे की नैतिक कसौटियों पर खरी नहीं उतर सकती। कई उदारतावादियों ने इस पर आपत्ति की है। वे इसके आधार पर सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ बनाने के पक्ष में नहीं हैं।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र ने लोकोपकारी राज्य से संबंधित विचारधाराओं को भी बल प्रदान किया है। कल्याणकारी राज्य का मतलब आम तौर पर ऐसी सरकार से समझा जाता है जो पेंशन, सामाजिक सुरक्षा, मुफ्त स्वास्थ्य सुविधाओं आदि के जरिये आम लोगों के कल्याण की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए तैयार हो। कल्याणकारी राज्य की हस्तक्षेपकारी नीतियों ने अपने शुरुआती दौर में काफ़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, पर सत्तर के दशक के बाद से बदली हुई राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में दक्षिणपंथियों ने ही नहीं बल्कि वामपंथियों ने भी इसकी आलोचना शुरू कर दी। दक्षिणपंथियों का कहना था कि आमदनी के पुनर्वितरण के लिए बनायी जाने वाली नीतियों ने व्यक्ति की पहलकदमी को नुकसान पहुँचाया है जिससे व्यक्ति में राज्य पर आश्रित होने की प्रवृत्ति पैदा हुई है। वामपंथियों का कहना है कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र पर आधारित लोकोपकारी राज्य वर्ग, जेंडर और नस्लगत असमानताओं को ख़त्म करने में नाकाम रहा है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, उपयोगितावाद, ऐडम स्मिथ, करारोपण, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कॉसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिडाल, जोआन रोबिंसन, जान कैनेथ गालब्रेथ, जान मेनार्ड कोस, जान स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जेरेमी बेंथम, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजनशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्लाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. जे. डि वि. ग्राफ़ (1957), *थियरिटिकल वेल्फ़ेयर इकॉनॉमिक्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. आई.एम.डी. लिटिल (1957), *अ क्रिटिक ऑफ़ वेल्फ़ेयर*

इकॉनॉमिक्स, ब्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, दूसरा संस्करण.

3. एस.के. नाथ (1969), *अ रिअप्रेज़ल ऑफ़ वेल्फ़ेयर इकॉनॉमिक्स*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

काज़ी नज़रुल इस्लाम

(Kazi Nazrul Islam)

भारतीय साहित्य में काज़ी नज़रुल इस्लाम (1899-1977) विद्रोही स्वर का नाम है। बीसवीं सदी की बांग्ला कविता में रवींद्रनाथ ठाकुर के बाद के युग का प्रतिनिधि स्वर महाकवि नज़रुल को ही माना जाता है। उनका समय भारतीय नवजागरण और स्वतंत्रता-संग्राम के यौवन का था। पूरे परिवेश में फ़िरंगियों को भारत से बाहर निकालने की पुकार थी जिसे असाधारण मेधा, रचनात्मकता और देशभक्ति के संयोग से नज़रुल ने वाणी दी। स्वाधीनता-संग्राम के दौर में भोगी गयीं नाना प्रकार की यातनाओं ने एक ऐसी कविता को जन्म दिया जो सामान्य जन की विजय के विश्वास से धड़क रही थी। उनकी सर्जनात्मकता में देशभक्ति और साम्राज्यवाद विरोध का अखण्ड स्वर है। उनका विद्रोह बेहद रचनात्मक है। नज़रुल का साहित्य भारत के सांस्कृतिक नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन का एक समृद्ध दस्तावेज़ है। बांग्ला साहित्य में संस्कृत का अरबी-फ़ारसी के मुकाबले ज़्यादा जोर रहा है। मुसलमान लेखक भी वहाँ कम ही रहे हैं। लेकिन नज़रुल ने अरबी-फ़ारसी की विषयवस्तु को इतने आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया कि सभी तरह के पाठक उनकी प्रतिभा से बेहद प्रभावित हुए। भारतीय गीत परम्परा में नज़रुल का अविस्मरणीय योगदान है। उनका विद्रोही रूप गीतों को एक अलग तरह का सौंदर्य देता है। नज़रुल के साहित्य में सोवियत समाजवाद की प्रशंसा मिलती है, पर उनके मानस की मूल-भूमि समाजवाद से ज़्यादा क्रांतिकारी देशभक्ति की है। वे भारत में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के उन्नायकों में से हैं। गीत और कविता के सृजन कर्म में तत्परता, एकाग्रता और स्वाधीनता आंदोलन की साम्राज्यवादी लय ने नज़रुल को मार्क्सवाद पर ठहर कर विचार करने का मौक़ा नहीं दिया। इसीलिए उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा की बजाय राष्ट्रवाद और जनक्रांति को आगे बढ़ाया। वे मुसलिम अलगाववाद और हिंदू साम्प्रदायिकता के विरोध में लगातार डटे रहे।

नज़रुल इस्लाम का जन्म 25 मई, 1899 को अविभाजित बंगाल के बर्दमान जिले के आसनसोल तहसील स्थित चुरुलिया गाँव में हुआ था। उनके पूर्वज पटना से काज़ी



काज़ी नज़रुल इस्लाम (1899-1977)

के रूप में बंगाल आये थे। पिता काज़ी फ़क़ीर अहमद बहुत ग़रीब थे। तीन लड़कियाँ थीं और एक लड़का जिसे पिता 'दुखू' कहते थे। कहते हैं उसका एक नाम तांत्रिक भाव का 'ताराख्यापा' भी था। दरअसल, नज़रुल का पूरा परिवार तांत्रिक साधनाओं में विश्वास रखता था, विशेषकर माँ। पिता जल्दी संसार छोड़ गये तो माँ ने चुरुलिया में ही लड़के को अरबी-फ़ारसी पढ़ाने का प्रबंध किया। होनहार नज़रुल ने फ़ारसी पर सिक्का जमाया और वहीं एक वर्ष तक शिक्षक भी रहे। वे उस समय तक सच्चे मुसलमान थे और अवसर पाकर *बांग्ला रामायण*, *महाभारत* और अन्य हिंदू-कृतियों का पाठ भी करते थे और साथ-साथ साधुओं-फ़क़ीरों, बाउल गायकों, सूफ़ियों-दरवेशों की संगति भी होती रहती। धार्मिक झुकाव था, लेकिन लापरवाह और प्रश्नाकुलताओं से घिरे हुए थे। मन लोक-गीत, लोक-धुनों, लोक-संगीत में रमता था। नज़रुल के चाचा घुमंतू नाट्यदल लेतो में थे और वे ही उन्हें इस दल में ले गये। संगीत में गहरी दिलचस्पी के कारण थोड़े समय में ही नज़रुल लेतोदल के नेता बन गये। लोक-साहित्य, लोक धुनें और लोक-जीवन का रंग उन पर ऐसा चढ़ा कि उनके गीतों का विकास उसी दिशा में हुआ।

ग़रीबी से परेशान नज़रुल आसनसोल चले आये, रेलवे गार्ड के क्वार्टरों में घरेलू काम किया और जल्दी ही खाना पकाने का काम करने लगे। यहाँ वे छुट्टी के समय बाँसुरी बजाते। ऐसा संयोग बना कि नज़रुल के फ़न से प्रभावित हो कर एक सब-इंस्पेक्टर उन्हें मैमन सिंह जिले के एक गाँव में ले गया और वहीं उनकी शिक्षा-व्यवस्था करायी। खेतों में रमते-गाते नज़रुल की कविता फूट पड़ी। वहाँ इम्तहान न दे पाने के कारण उन्हें आसनसोल आना पड़ा और

शिक्षा शुरू हुई। वे हाई स्कूल में प्रथम आये और वहीं क्रांतिकारी दल युगांतर के सम्पर्क में आये। स्वाधीनता की लड़ाई जारी थी और प्रथम विश्वयुद्ध का महौल था। 1917 में नज़रुल ने पढ़ाई छोड़कर उबल कम्पनी में नाम लिखाया और शीघ्र ही कराची भेज दिये गये। कराची में उनके गीतों ने सैनिकों को बड़ा रिझाया। इसी हालात में उन्होंने हाफ़िज़ की रुबाइयों का अनुवाद शुरू किया जो 1930 में समाप्त हुआ। इसी समय नज़रुल ने पहली कहानी की रचना की 'घुमक्कड़ की आत्मकथा' जो 1919 में प्रतिष्ठित पत्र *सौगात* में छपी। उनकी एक कविता *बंगीय मुसलमान साहित्य पत्रिका* में छपी इसमें एक फ़क़ीर का चमत्कार वर्णित है। कविता की असाधारण लय ने साम्यवादी नेता मुजफ़्फ़र अहमद उर्फ़ काका बाबू से नज़रुल का परिचय कराया। नज़रुल साम्यवादी मंच पा गये। उनका साहित्यिक दायरा बढ़ा और अन्य रचनाकारों से मित्रता भी। 1920 में वे फिर बंगाल वापस आये। भारत में गाँधी के सत्याग्रह की लहर चल रही थी। जलियाँवालाबाग काण्ड हुआ और नज़रुल के देशभक्त में विद्रोह का अरमान जगा।

नज़रुल की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप में छपीं। ये थीं *बंधन द्वारा* (उपन्यास), *बादल बारिशान* (वर्षा और मूसलाधार वर्षा की एक प्रतीक कथा), *बादल प्रातेर सोहराब*, *बोधन*, *मुहर्रम*, *गीत*, *गज़ल* (हाफ़िज़ का अनुवाद), *फ़तवा-ए-दोज़दम* (पैग़म्बर का जन्मदिन-कविता), *विरहविधुर*, *मरामीगीत*, *स्नेह गीत* (सभी कविताएँ)। इन रचनाओं का पाठकों ने हृदय से स्वागत किया। यह भी कहा गया कि उपन्यासकार से ज्यादा उनमें कवि की प्रतिभा है। नज़रुल की *शातिल अरब* कविता में इराक़ के सैनिक की कल्पना थी जो अपनी मातृभूमि और 'महान शहीदों की भूमि' को दासता से मुक्त कराना चाहता था। इस कविता से नज़रुल की काव्य-प्रतिभा की धाक जम गयी। *मुहर्रम* कविता भी देश-भक्ति का प्रवाह बनकर आयी, संगीत-लय की अरबी-फ़ारसी उठान के साथ।

कलकत्ता में शैलजानंद से मिलने के बाद *मुसलिम भारत* और *मुसलमान साहित्य समिति* के कार्यालय में रहने लगे। उन्हें बोल्शेविक क्रांति की ख़बरों ने भी उत्साहित किया। नज़रुल की मानसिकता न मुसलमान थी, न हिंदू। वह देशभक्ति के भावों की उठान पर थी। इस फक्कड़पन ने उनके सोच की दिशा ही बदल दी।

इसी समय ख़िलाफ़त आंदोलन के साम्राज्यवाद विरोधी रुख ने हिंदू-मुसलमानों को एक मंच पर ला दिया। 1920 में नज़रुल इस समय क्रांतिकारी वारिंद्र कुमार घोष और अविनाश भट्टाचार्य आदि के सम्पर्क में थे। नलिनीकांत सरकार से उनकी मित्रता थी। वे *मुसलिम भारत*, *सौगात* जैसे

पत्रों के अलावा *उपासना* और *भारती* जैसे पत्रों में भी लिखने लगे। वारींद्र कुमार घोष द्वारा सम्पादित *बिजली* के सम्पादकीय क्रांति-भावना सींच रहे थे। इसमें समाजवादी देशों के साहित्य का लेखा-जोखा रहता था। नज़रुल ने जीविका के लिए पत्रकारिता का मार्ग चुना। *नवयुग* पत्र निकला तो मुज़फ़्फ़र अहमद और नज़रुल उसके संयुक्त सम्पादक बने। यह साम्राज्यवाद-विरोधी पत्र था। पुलिस ने इन दोनों के लेखन पर कड़ी आपत्तियाँ कीं।

बंगाल में चितरंजन दास के नेतृत्व में असहयोग का माहौल था। नज़रुल के गीतों में, राजनीति का चित्रण *मरण-वरण* जैसी कविता लेकर आया। आज ये कविताएँ (गीत) *पूर्व हवा* काव्य-संग्रह में संगृहीत हैं। यह काल नज़रुल के सृजन का अपूर्व रूप सामने लाता है। नज़रुल ने *बांगलार कथा* पत्र में *भंगार गान* (विनाश का गीत) लिखा जिसकी मूल संवेदना में जेल के लौह दरवाज़ों को तोड़ने की अपील थी। उन बेड़ियों को तोड़ने का आह्वान था जो देवता की पूजा में विघ्न डालने के लिए खड़ी की गयी हों। एक खास अर्थ में यह राष्ट्रीय-आंदोलन का पहला महान गीत कहा जा सकता है। जनता ने स्वाधीनता-आंदोलन में 1947 तक इसी गीत को गया। असंख्य मंचों पर इसका गायन एक इतिहास ही बन गया। स्वाधीनता-आंदोलन की लय ने ही लम्बी कविता *विद्रोही* का सृजन कराया जो *बिजली* में प्रकाशित हुई। यह कविता इतनी प्रसिद्ध हुई कि नज़रुल को 'विद्रोही' उपनाम ही मिल गया। असल में नज़रुल शुरू से ही जुझारू कवि रहे हैं। नज़रुल सत्याग्रह और अहिंसा के प्रशंसक थे। 1921 से उन्होंने गाँधी पर कई कविताएँ लिखीं। स्वाधीनता-आंदोलन में गाँधी जी का आगमन उन्हें स्वयं 'मोहन' का आना लगता रहा। गाँधी का चरखा कर्ममय जीवन की धुन का प्रतीक था।

प्रेमगीतों के संग्रह *दोलोनचम्पा* (1923), *छायानट* (1924), लेखों के संग्रह *युगवाणी* (1922) और कहानी संग्रह *व्यथारदान* (1922) के साथ-साथ इसी अवधि में उनका काव्य-संग्रह *अग्निवीणा*, जिसे अनगिनत पाठकों का प्यार मिला। यह संग्रह उन्होंने महान क्रांतिकारी वारींद्र कुमार घोष को समर्पित किया और इसका मुखपृष्ठ अरुणोदर नाथ ठाकुर ने बनाया। रवींद्रनाथ ने इस काव्य-संग्रह की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। 1922 में नज़रुल ने *धूमकेतु* पत्र का प्रकाशन किया। इसके साथ रवींद्र नाथ ठाकुर और शरतचंद्र चटर्जी, का आशीर्वाद था। इस पत्र में काजी नज़रुल इस्लाम की राजनीतिक चेतना की प्रखरता, कॉमरेडी रुतबा और रंग भी था। पाठकों ने नज़रुल के विचार में फ्रांसीसी क्रांति के तीनों नारों स्वाधीनता, बंधुता और समता के दर्शन किये। जातिरहित, वर्गरहित, धर्मरहित, धर्मनिरपेक्षतावाद की आहट भी सुनी। नये भारत की रचना का संकल्प लेकर चलने वाले

धूमकेतु का लक्ष्य था हिंदू-मुसलिम एकता स्थापित करना, किसी भी तरह के सम्प्रदायवाद-साम्प्रदायिकता से दूर रहना और सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता का समर्थन करना। *धूमकेतु* के कार्यालय में कवि-कलाकार, पत्रकार-संगीतकार, चित्रकार एकत्रित होकर गाते थे। इस माहौल में विद्रोह की स्थिति का निवास रहता। *धूमकेतु* के दीपावली अंक में एक सम्पादकीय 'मैं भूखा हूँ' शीर्षक से छपा है। इस पर हुकूमत ने नज़रुल को पकड़ कर एक वर्ष की कड़ी सज़ा दी। सज़ा से पहले उन्होंने 'राजबंदीर जबान बंदी' शीर्षक से वक्तव्य दिया जिसकी निभर्यता पर गर्व किया जा सकता है। कवि ने जेल के भीतर भूख हड़ताल की और क़ैदियों पर किये जा रहे अत्याचारों पर फ़िरंगी सरकार को भला-बुरा कहा। नज़रुल की जेल में लिखा गयी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं। जेल-यात्रा के बाद नज़रुल ने गिरिबाला देवी की इकलौती बेटी विराज सुंदरी से विवाह किया। यह हिंदू-मुसलमान विवाह काफ़ी विवाद का कारण बना, किंतु इस समय भी वे राजनीतिक कविताओं का सृजन करते रहे। इसी बीच आयी लम्बी कविता *भड़* (तूफ़ान) जो *विषेरवंशी* में संगृहीत की गयी।

नज़रुल के 'चल चल चल' जैसे प्रयाण गीत जयशंकर प्रसाद के प्रयाण-गीत 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' जैसे गीत की याद दिलाते हैं। नज़रुल के 'तरुण प्रातेर, तरुणदल, चलरे, चलरे, चल' ने उन्हें जनकंठ में अमर कर दिया। उनकी कविता 'हिंदू-मुसलिम युद्ध' और 'मंदिर ओ मसजिद' तीखे व्यंग्य का भाव-स्फोट है। नज़रुल को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का बांग्ला में प्रथम अनुवाद का श्रेय भी जाता है।

1930 के बाद के वर्षों में नज़रुल संगीत की दुनिया में चले गये। वैसे भी उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन लोक-साहित्य, लोक-संगीत और लोक के दल लेतो से ही शुरू किया था। गायक और निर्देशक के रूप में उन्होंने ग़ैर-पारम्परिक धुनों के प्रयोग किये। *प्रेम-गीत* और 'प्रकृति-गीत' में उन्होंने गज़ल को जोड़ दिया। गज़ल को बांग्ला संगीत में स्थान देने वाले नज़रुल प्रथम कलाकार हैं। उनका संग्रह 'वनगीति' 1930 में आया तो शास्त्रीय संगीत के उस्ताद चौंक गये। एचएमवी ने नज़रुल को प्रशिक्षक के रूप में स्थान दिया और फ़िल्म निर्माताओं और ग्रामाफ़ोन कम्पनियों ने उनकी प्रतिभा का लाभ उठाया। नज़रुल ने अपने 3500 गीतों को स्वरबद्ध किया जिनमें स्वदेशी गान बहुत लोकप्रिय हुए।

पुत्र बुलबुल के निधन के बाद उनके गीतों में माँ काली और पूजा तत्त्व का राग प्रबल होता गया। जीवन के अपने अंतिम दौर में वे विक्षिप्त रहे और निधन से पहले चिरस्थायी यातना के दौर से गुज़रे।

देखें : काजी नज़रुल इस्लाम, कुमारन् आशान्, गजनान माधव मुक्तिबोध-1 और 2, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, फ़क़ीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. वसुधा चक्रवर्ती (1960), *काजी नज़रुल इस्लाम*, सूर्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. गोपाल हालदार (1977), *काजी नज़रुल इस्लाम*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली.
3. डॉ. नगेंद्र (सम्पा.) (1992), *भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

कानून

(Law)

कानून या विधि का मतलब है मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित और संचालित करने वाले नियमों, हिदायतों, पाबंदियों और हकों की संहिता। लेकिन यह भूमिका तो नैतिक, धार्मिक और अन्य सामाजिक संहिताओं की भी होती है। दरअसल, कानून इन संहिताओं से कई मायनों में अलग है। पहली बात तो यह है कि कानून सरकार द्वारा बनाया जाता है लेकिन समाज में उसे सभी के ऊपर समान रूप से लागू किया जाता है। दूसरे, 'राज्य की इच्छा' का रूप ले कर वह अन्य सभी सामाजिक नियमों और मानकों पर प्राथमिकता प्राप्त कर लेता है। तीसरे, कानून अनिवार्य होता है अर्थात् नागरिकों को उसके पालन करने के चुनाव की स्वतंत्रता नहीं होती। पालन न करने वाले के लिए कानून में दण्ड की व्यवस्था होती है। लेकिन, कानून केवल दण्ड ही नहीं देता। वह व्यक्तियों या पक्षों के बीच अनुबंध करने, विवाह, उत्तराधिकार, लाभों के वितरण और संस्थाओं को संचालित करने के नियम भी मुहैया कराता है। कानून स्थापित सामाजिक नैतिकताओं की पुष्टि की भूमिका भी निभाता है। चौथे, कानून की प्रकृति 'सार्वजनिक' होती है क्योंकि प्रकाशित और मान्यता प्राप्त नियमों की संहिता के रूप में उसकी रचना औपचारिक विधायी प्रक्रियाओं के जरिये की जाती है। अंत में कानून में अपने अनुपालन की एक

नैतिक बाध्यता निहित है जिसके तहत वे लोग भी कानून का पालन करने के लिए मजबूर होते हैं जिन्हें वह अन्यायपूर्ण लगता है। राजनीतिक व्यवस्था चाहे लोकतांत्रिक हो या अधिनायकवादी, उसे कानून की किसी न किसी संहिता के आधार पर चलना पड़ता है। लेकिन, लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में बदलते समय के साथ अप्रासंगिक हो गये या न्यायपूर्ण न समझे जाने वाले कानून को रद्द करने और उसकी जगह नया बेहतर कानून बनाने की माँग करने का अधिकार होता है।

कानून की एक उल्लेखनीय भूमिका समाज को संगठित शैली में चलाने के लिए नागरिकों को शिक्षित करने की भी मानी जाती है। शुरुआत में राजनीतिशास्त्र के केंद्र में कानून का अध्ययन ही था। राजनीतिक दार्शनिक विधि के सार और संरचना के सवाल पर जबरदस्त बहसों में उलझे रहे हैं। कानून के विद्वानों को मानवशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र, नैतिकशास्त्र और विधायी मूल्य-प्रणाली का अध्ययन भी करना पड़ता है।

संविधानसम्मत आधार पर संचालित होने वाले उदारतावादी लोकतंत्रों में 'कानून के शासन' की धारणा प्रचलित होती है। इन व्यवस्थाओं में कानून के दायरे के बाहर कोई काम नहीं करता, न व्यक्ति और न ही सरकार। इसके पीछे कानून का उदारतावादी सिद्धांत है जिसके मुताबिक कानून का मकसद व्यक्ति पर पाबंदियाँ लगाना न हो कर उसकी स्वतंत्रता की गारंटी करना है। उदारतावादी सिद्धांत मानता है कि कानून के बिना व्यक्तिगत आचरण को संयमित करना नामुमकिन हो जाएगा और एक के अधिकारों को दूसरे के हाथों हनन से बचाया नहीं जा सकेगा। इस प्रकार जॉन लॉक की भाषा में कानून का मतलब है जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति की रक्षा के लिए कानून। उदारतावादी सिद्धांत स्पष्ट करता है कि कानून के बनाने और लागू करने के तरीके कौन-कौन से होने चाहिए। मसलन, कानून निर्वाचित विधिकर्ताओं द्वारा आपसी विचार-विमर्श के जरिये किया जाना चाहिए। दूसरे, कोई कानून पिछली तारीख से लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस सूरत में वह नागरिकों को उन कामों के लिए दण्डित करेगा जो तत्कालीन कानून के मुताबिक किये गये थे। इसी तरह उदारतावादी कानून क्रूर और अमानवीय क्रिस्म की सज़ाएँ देने के खिलाफ़ होता है। राजनीतिक प्रभावों से निरपेक्ष रहने वाली एक निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना की जाती है ताकि कानून की व्यवस्थित व्याख्या करते हुए पक्षकारों के बीच उसके आधार पर फैसला हो सके।

मार्क्सवादियों की मान्यता है कि कानून के शासन की अवधारणा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी करने के नाम पर सम्पत्ति संबंधी अधिकारों की रक्षा करते हुए पूँजीवादी व्यवस्था की हिफ़ाज़त के काम आती है। इसका नतीजा

सामाजिक विषमता और वर्गीय प्रभुत्व को बनाये रखने में निकलता है। मार्क्स क्रानून को राजनीति और विचारधारा की भाँति उस सुपरस्ट्रक्चर या अधिरचना का हिस्सा मानते हैं जिसका बेस या आधार पूँजीवादी उत्पादन की विधि पर रखा जाता है। नारीवादियों ने भी क्रानून के शासन की अवधारणा की आलोचना की है कि वह लैंगिक निष्पक्षता पर आधारित नहीं है। इसीलिए न्यायपालिका और क्रानून के पेशे पर पुरुषों का कब्जा रहता है। बहुसंस्कृतिवाद के पैरोकारों का तर्क है कि क्रानून असल में प्रभुत्वशाली सांस्कृतिक समूहों के मूल्यों और रवैयों की नुमाइंदगी ही करता है। परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक और हाशियाग्रस्त समूहों के मूल्य और सरोकार नज़रअंदाज़ किये जाते रहते हैं।

क्रानून और नैतिकता के बीच अंतर के सवाल पर दार्शनिक शुरू से ही सिर खपाते रहे हैं। क्रानून का आधार नैतिक प्रणाली में मानने वालों का यकीन 'प्राकृतिक क्रानून' के सिद्धांत में है। प्लेटो और उनके बाद अरस्तू की मान्यता थी कि क्रानून और नैतिकता में नज़दीकी रिश्ता होता है। एक न्यायपूर्ण समाज वही हो सकता है जिसमें क्रानून नैतिक नियमों पर आधारित प्रज्ञा की पुष्टि करते हों। मध्ययुगीन ईसाई विचारक थॉमस एक्विना भी मानते थे कि इस धरती पर उत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए नेचुरल लॉ यानी ईश्वर प्रदत्त नैतिकताओं के मुताबिक क्रानून होने चाहिए।

उन्नीसवीं सदी में बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा बढ़ने के कारण प्राकृतिक क्रानून का सिद्धांत निष्प्रभावी होता चला गया। क्रानून को नैतिक, धार्मिक और रहस्यवादी मान्यताओं से मुक्त करने की कोशिशें हुईं। जॉन आस्टिन ने 'विधिक प्रत्यक्षतावाद' की स्थापना की जिसका दावा था कि क्रानून का सरोकार किसी उच्चतर नैतिक या धार्मिक उसूल से न हो कर किसी सम्प्रभु व्यक्ति या संस्था से होता है। क्रानून इसलिए क्रानून है कि उसका पालन करवाया जाता है और करना पड़ता है। विधिक प्रत्यक्षतावाद की कहीं अधिक व्यावहारिक और नफ़ीस व्याख्या एच.एल.ए. हार्ट की रचना *द कंसेप्ट ऑफ़ लॉ* (1961) में मिलती है। हार्ट क्रानून को नैतिक नियमों के दायरे से निकाल कर मानव समाज के संदर्भ में परिभाषित करते हैं। उनके मुताबिक क्रानून प्रथम और द्वितीयक नियमों का संयोग है। प्रथम श्रेणी के नियमों को क्रानून के सार की संज्ञा देते हुए हार्ट कहते हैं कि उनका ताल्लुक सामाजिक व्यवहार के विनियमन से है। जैसे, फ़ौजदारी क्रानून। द्वितीय श्रेणी के नियम सरकारी संस्थाओं को हिदायत देते हैं कि क्रानून किस तरह बनाया जाए, उनका किस तरह कार्यान्वयन किया जाए, किस तरह उसके आधार पर फ़ैसले किये जाएँ और इन आधारों पर किस तरह उसकी वैधता स्थापित की जाए।

हार्ट द्वारा प्रतिपादित विधिक प्रत्यक्षतावाद के सिद्धांत की आलोचना राजनीतिक दार्शनिक रोनाल्ड ड्वॉर्किन ने की है। उनके अनुसार क्रानून केवल नियमों की संहिता ही नहीं होता और न ही आधुनिक विधि प्रणालियाँ क्रानून की वैधता स्थापित करने के लिए किसी एक समान तरीके का प्रावधान करती हैं।

क्रानून और नैतिकता के बीच संबंध की बहस नाज़ियों के अत्याचारों को दण्डित करने वाले न्यूरेंबर्ग मुकदमे में भी उठी थी। प्रश्न यह था कि क्या उन कामों को अपराध ठहराया जा सकता है जो राष्ट्रीय क्रानून के मुताबिक किये गये हों? इसके जवाब के लिए प्राकृतिक क्रानून की अवधारणा का सहारा लिया गया, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति मानवाधिकारों की भाषा में हुई। दरअसल क्रानून और नैतिकता के रिश्ते का प्रश्न बेहद जटिल है और गर्भपात, वेश्यावृत्ति, पोर्नोग्राफी, टीवी और फ़िल्मों में दिखाई जाने वाली हिंसा, अपनी कोख किराए पर देने वाली माताओं और जेनेटिक इंजीनियरिंग जैसे मसलों के संदर्भ में बार-बार उठती रहती है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एच.एल.ए. हार्ट ()1961, *द कंसेप्ट ऑफ़ लॉ*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. रोनाल्ड ड्वॉर्किन (1986), *लाज़ एम्पायर*, कोलिंस, लंदन, 1986
3. जे. रैज़, *द अथॉरिटी ऑल लॉ*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड
4. ओ. डब्ल्यू. होम्स (1932), *द प्योर थियरी ऑफ़ लॉ*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बरकल.
5. एच. कोलिंस (1982), *मार्क्सिज़्म एंड लॉ*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

क्रानून और स्त्री

(Law and Women)

लैंगिक बराबरी के लिए होने वाले राजनीतिक संघर्ष में क्रानून को स्त्री के पक्ष में झुकाने का केंद्रीय महत्त्व है। पितृसत्तात्मक पूर्वग्रहों के कारण सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों की गतिशीलता क्रानूनन सीमित की जाती रही है। कमजोर मान

कर सुरक्षा देने के नाम पर क़ानून के जरिये उन्हें कई तरह के रोज़गारों और सामाजिक अवसरों से वंचित किया जाता रहा है। इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए स्त्री-विरोधी हिंसा के विभिन्न रूपों का उन्मूलन करने, परिवार-समुदाय-कार्यस्थल के दायरे में स्त्रियों को समान हैसियत दिलाने, सार्वजनिक जीवन और ख़ासकर मीडिया में स्त्री छवि के आपत्तिजनक निरूपण के खिलाफ़ रोक लगवाने और सम्पत्ति में उत्तराधिकार का वाजिब अधिकार हासिल करने के लिए सारी दुनिया में नारीवादियों ने क़ानून के मक़ाम पर कई तरह के मोर्चे लिए हैं। उन्होंने मौजूदा क़ानूनों का लाभ उठाने के लिए अदालतों में याचिकाएँ दायर की हैं, क़ानूनों में सुधार के लिए अभियान चलाये हैं और स्त्री-समाज में क़ानून के प्रति जागरूकता पैदा की है। नारीवादी विद्वानों ने विधि संबंधी अवधारणाओं और पद्धतियों को आलोचनात्मक विश्लेषण का विषय बनाते हुए क़ानूनी मुद्दों पर होने वाली बहस के आधारों पर जेंडर के नज़रिये से सवालिया निशान लगाया है।

भारत की नारीवादी राजनीति में सत्तर और अस्सी का दशक इस दृष्टि से काफ़ी अहमियत रखता है। इसी अवधि में स्त्री-समूहों की माँगों के दबाव में क़ानून के कई पहलुओं में तब्दीलियाँ की गयीं। दूसरी तरफ़ क़ानून से इंसानों की प्रक्रिया ने भारतीय नारीवादियों के बीच इस प्रश्न पर बौद्धिक बहसों को भी जन्म दिया कि आखिर क़ानून के प्रति सही लैंगिक दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। क्या सिर्फ़ क़ानून अपने-आप में इतनी ताक़तवर शै है कि उसे बदल देने से स्त्री को इंसान मिलना शुरू हो जाएगा? या फिर क़ानून की ताक़त में अंधा भरोसा करने के बजाय उसके साथ नारीवादियों को आलोचनात्मक रिश्ता बनाना चाहिए? इन सवालों का जवाब खोजने की प्रक्रिया में स्त्री-अध्ययन के दायरे में पिछले दिनों कई पुस्तकाकार अध्ययन सामने आये हैं।

सत्तर के दशक में स्त्री-अधिकारों के दावेदारों ने बलात्कार के खिलाफ़ क़ानून के बुनियादी चरित्र पर सवाल उठाते हुए कहा कि अंग्रेज़ों द्वारा बनाये गये इस क़ानून में औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी पितृसत्ताओं की निरंतरता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। स्त्री-संगठनों ने दिखाया कि बलात्कार की शिकार स्त्री क़ानून की इबारत में, अदालत के कमरे में, पुलिस के थाने में, लोकप्रिय संस्कृति और मीडिया के दायरे में किस तरह असहाय और अकेली पड़ जाती हैं। उसका निरूपण नारीत्व की प्रचलित संरचनाओं के बाहर जाते हुए कुछ इस तरह से किया जाता है कि जैसे अपने बलात्कार की वह खुद ही ज़िम्मेदार हो। 1972 में मथुरा नामक स्त्री-मजदूर के साथ पुलिस थाने में हुए बलात्कार और फिर उस पर विभिन्न अदालतों में चले मुक़दमे के इर्द-गिर्द राष्ट्रीय गोलबंदी हुई। 1979 में भारत के मुख्य न्यायाधीश को उषेंद्र बख़्शी, वसुधा धगमवार, रघुनाथ केलकर और लतिका

सरकार द्वारा लिखे गये खुले पत्र ने इसमें प्रेरक भूमिका का निर्वाह किया। पत्र में बलात्कार की शिकार स्त्री की 'सहमति' और उसके 'सेक्शुअल अतीत' का बेजा इस्तेमाल करने के खिलाफ़ मज़बूत तर्क दिये गये थे। परिणामस्वरूप 1983 में बलात्कार क़ानून बदला गया। इस सफलता में क़ानून और सुप्रीम कोर्ट के कामकाज की आलोचना करने वाले क़ानून के प्रोफ़ेसरो की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

बलात्कार और दहेज-हिंसा से संबंधित क़ानून बदलवाने के लिए चले आंदोलनों के साथ-साथ अस्सी के दशक की शुरुआत में स्त्री-समूहों को 1984 में फ़ेमिली कोर्ट एक्ट पारित करवाने के रूप में एक बड़ी सफलता मिली। चूँकि भारत में सभी के लिए एक ही नागरिक संहिता नहीं है, इसलिए मौजूदा अधिकारों के तहत विवाह, तलाक़, उत्तराधिकार और बच्चों के लालन-पालन संबंधी विवादों को निबटाने के लिए अलग फ़ेमिली कोर्ट का प्रावधान आवश्यक था। लेकिन, इन अदालतों के कामकाज का अध्ययन करने के बाद नारीवादी प्रेक्षक इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इन्हें स्त्री के पक्ष में और प्रभावी बनाने के लिए क़ानून में अभी और भी सुधार की ज़रूरत है। देखा गया है कि ये अदालतें स्त्री को इंसान दिलाने के बजाय परिवार की संस्था को मज़बूत करने में अधिक दिलचस्पी दिखाती हैं।

नारीवादियों के बीच बहस : स्त्री-मुक्ति के लिए क़ानून का इस्तेमाल करने के तौर-तरीकों और दृष्टिकोण के प्रश्न पर भारतीय नारीवादियों के बीच काफ़ी बहस होती रही है। शाहबानो-मुक़दमे से जुड़े विवाद के दौरान समान नागरिक संहिता की माँग पर पड़ी साम्प्रदायिक छाया ने भी नारीवादी आंदोलन को बेचैन किया है। इसके अलावा एक महत्त्वपूर्ण बहस यह भी है कि क्या स्त्री-अधिकारों के प्रश्न को हमेशा उदारतावादी विचारों की रोशनी में ही देखा जाना चाहिए। उदारतावाद व्यक्ति को समुदाय के ऊपर प्राथमिकता देता है। परिणामस्वरूप विविध भारतीय संदर्भों में कई जगह व्यक्ति के रूप में स्त्री के अधिकार सामुदायिक अधिकारों के मुकाबले खड़े हो जाते हैं—चाहे वह मुसलमान समुदाय हो या उत्तर-पूर्व के आदिवासी समुदाय हों। इस सिलसिले में एक नतीजा यह निकला है कि हर सामाजिक परिस्थिति में अधिकारों की उदारतावादी भाषा बोलने के बजाय स्थानीय परम्परा के राजनीतिक आयामों को ध्यान में रख कर संघर्ष की रणनीति बनायी जानी चाहिए।

सार्वजनिक स्थलों पर स्त्रियों के साथ छेड़छाड़, दफ़्तरों और विश्वविद्यालय जैसी जगहों पर उनके साथ सेक्शुअल बदसलूकी और यौन-शोषण के क़ानूनी निवारण के सवाल पर भी नारीवादियों के बीच बहस है। इस संबंध

में एक अंदेशा यह जताया गया है कि क्या सार्वजनिक स्थानों पर सेक्स संबंधी किसी भी क्रिस्म की चर्चा को प्रतिबंधित करने का नतीजा सेक्सुअल स्वायत्तता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सेक्सुअल अधिकारों के हनन में तो नहीं निकलेगा? क्या इस तरह के अभियानों के कारण खुद सेक्स ही अपने आप में प्रतिबंधित स्थिति में नहीं पहुँच जाएगा? इसी के साथ जुड़ा हुआ सवाल यह है कि सेक्सुअल अधिकारों की दावेदारी केवल सेक्सुअल अल्पसंख्यकों (समलैंगिकों, हिजड़ों आदि) की तरफ से ही क्यों की जाती है? क्या अन्य स्त्रियों को अपने सेक्सुअल अधिकारों की दावेदारी नहीं करनी चाहिए?

यह बहस उठाने वाले नारीवादी विद्वान सेक्सुअल बदसलूकी के खिलाफ स्त्रियों को क्रानूनी संरक्षण देने के खिलाफ नहीं है, पर वे इस मामले में क्रानून की सीमाओं को भी रेखांकित करना चाहते हैं। इस सिलसिले में एक सुझाव यह सामने आया है कि क्रानूनी के साथ-साथ क्रानून से इतर रणनीतियों के जोड़ पर अमल किया जाना चाहिए। मसलन, हिंदू स्त्री की यौनिक निष्ठा से जुड़े आग्रहों को पुष्ट करने वाले क्रानूनों को खारिज किया जाना चाहिए, पति द्वारा पत्नी के साथ जबरदस्ती सहवास करने को गैरक्रानूनी बनाया जाना चाहिए और सहमति के आधार पर की गयी यौन-क्रिया (पुरुषों के बीच होने वाली यौन-क्रिया समेत) को अपराध मानने का आग्रह खत्म होना चाहिए। इसी के साथ इस बहस से यह सुझाव भी निकला है कि छेड़छाड़ विरोधी क्रानून के पुराने पड़ गये विक्टोरियन चरित्र पर फिर से गौर किया जाना चाहिए।

प्रेक्षकों ने देखा है कि जनसंख्या-विस्फोट को नियंत्रित करने के मकसद से परिवार में बच्चों की संख्या दो तक सीमित करने के राज्य आधारित क्रानूनों का असर उत्तर-पश्चिमी राज्यों की जन्म-दर गिरने में निकला है। चूँकि समाज पुत्रों को प्राथमिकता देता है इसलिए इन राज्यों में ऐसे क्रानूनों के कारण बालिका-भ्रूणों की हत्या का चलन बढ़ गया है। इस उदाहरण से जाहिर होता है कि विकास के लक्ष्यों को ध्यान में रख कर बनाये जाने वाले क्रानूनों का असर स्त्री-समाज के खिलाफ भी जा सकता है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, क्रानून और स्त्री, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पश्चिम में नारीवाद-1 और 2, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और

2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्राफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयात, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

- उपेंद्र बख्शी (1979), वसुधा धगमवार, रघुनाथ केलकर और लतिका सरकार, 'ऐन ओपिन लेटर टू द चीफ़ जस्टिस ऑफ़ इण्डिया', *सुप्रीम कोर्ट केसिस (जर्नल)* खण्ड 1, अंक 17, नयी दिल्ली.
- फ्लैविया एग्नस (1990), 'फ़ेमिली कोर्ट्स : फ़्रॉम फ़्राइंग पैन इनटु द फ़ायर', *द लॉइयर्स*, सितम्बर.
- नंदिता हक्सर (1999), 'ह्यूमन राइट्स लॉइयरिंग : अ फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव', अमिता ढाँढा और अर्चना पाराशर (सम्पा.), *इनजेंडरिंग लॉ इन इण्डिया : एसेज़ इन द ऑनर ऑफ़ लतिका सरकार*, ईस्टर्न बुक्स, लखनऊ.
- रत्ना कपूर (2001), 'सेक्सपेड्स ऐंड द लॉ', *सेमिनार* 505, सितम्बर.

— अभय कुमार दुबे

कारागार

(Prison)

कारागार एक ऐसी संस्था और भौतिक संरचना है जहाँ किशोर तथा वयस्क अपराधियों को दण्ड की अवधि के अनुसार क्रानूनी हिरासत में रखा जाता है। इसके पीछे यह धारणा सक्रिय है कि कारागार में रहने की अवधि में अपराधी असामाजिक कृत्यों और अपराध को बढ़ावा देने वाली स्थितियों से दूर रहेंगे। इस अर्थ में कारागार राज्य की एक एजेंसी भी है जो न्यायालय द्वारा निर्धारित किये गये दण्ड का पालन करते हुए यह सुनिश्चित करती है कि अपराधी कारागार की सुरक्षा में रहे ताकि शेष समाज असुरक्षित महसूस न करे। कारागार की व्यवस्था में कारावास की अवधि के दौरान बंदियों की जरूरतें पूरी करने और उनके परिष्कार के लिए आवश्यक कार्यक्रम संचालित करने का उत्तरदायित्व भी निहित है। कारागार को किसी राज्य की दण्ड-व्यवस्था की संस्था के तौर पर भी देखा जा सकता है। उसका स्वरूप और कार्यकारी ढाँचा अपराध के वैधानिक दर्शन से निर्धारित होता है। कारागार की संस्था दण्ड के औचित्य निर्धारण और उससे संबंधित विभिन्न दृष्टियों के अनुरूप विकसित हुई है। उदाहरण के लिए प्राचीन और मध्यकाल में जब दण्ड का विमर्श इस धारणा पर आधारित था कि अपराधी के साथ दण्ड

के रूप में वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा उसने पीड़ित के साथ किया है तो क्रानून की व्यवस्था में कारागार की जगह प्रतिशोध को तवज्जो दी जाती थी। इसी तरह जब दण्ड के दर्शन में यह माना जाता था कि अपराधी को कठोर दण्ड इसलिए दिया जाना चाहिए ताकि खुद अपराधी और अपराध करने के बारे में सोचने वाले लोग भयभीत हो जाएँ तो कारागार एक अव्यावहारिक कल्पना लगती थी।

कारागार की अवधारणा ने मूर्त रूप तब लेना शुरू किया जब दण्ड को प्रतिशोध या प्रताड़ना के बजाय इस दृष्टि से देखने का आग्रह मजबूत हुआ कि उसका लक्ष्य अपराधी के चरित्र और व्यवहार में सुधार और बदलाव लाना होना चाहिए ताकि वह क्रानून का सम्मान करना सीखे और एक समर्थ नागरिक के रूप में जीवन यापन कर सके। इस मान्यता में यह अंतर्निहित था कि कारागार को अपराधी के संदर्भ में एक पुनर्वास केंद्र की तरह देखा जाए। बीसवीं सदी के बड़े हिस्से में कारागार को सुधार गृह मानने का नज़रिया प्रबल रहा है। लेकिन कई विचारकों ने इस बात पर जोर दिया है कि अपराधियों के सुधार या परिष्कार के लिए उन्हें हिरासत और एकांत में रखना ज़रूरी नहीं है। लिहाज़ा अपराधियों के सुधार पर केंद्रित कार्यक्रम मुख्यतः दो श्रेणियों में बँटते गये हैं। एक श्रेणी के कार्यक्रम हिरासत में रखे जाने वाले बंदियों के लिए चलाये जाते हैं तो दूसरी श्रेणी के कार्यक्रम गैर-हिरासती कारावास के लिए नियत किये गये हैं।

कारावास का दण्ड निर्धारित हो जाने पर जब व्यक्ति को कारागार में भेजा जाता है तो उसके बारे में सबसे पहला आकलन यह किया जाता है कि उसे अन्य बंदियों के साथ रखा जाए या उसके लिए अलग व्यवस्था करनी होगी। आकलन में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि कारागार के अंदर उसकी निगरानी करने के लिए तैयारी का स्तर क्या होना चाहिए ताकि वह भाग न जाए और कारागार में सुधार की सुविधाओं को अस्तव्यस्त न कर दे। आकलन की इस प्रक्रिया में यह तथ्य विशेष महत्त्व रखता है कि बंदी कितना खतरनाक है और वह अन्य बंदियों की सुरक्षा के लिए क्या खतरा पैदा कर सकता है।

इस तरह कारागार का सुरक्षा के स्तर की दृष्टि से एक स्थूल वर्गीकरण किया जाता है। कारागार में बंदी को किस वर्ग में रखा जाएगा यह बात बंदी के मौजूदा अपराध की गम्भीरता, उसके द्वारा कारागार से भागने या हिंसा में लिप्त होने के रिकार्ड, सज़ा की अवधि तथा अतीत में किये गये अपराधों की पुष्टि आदि पर निर्भर करती है। सुरक्षा व्यवस्था के आधार पर कारागार को मौटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है— न्यूनतम, मध्यम और उच्च सुरक्षा कारागार।

न्यूनतम सुरक्षा कारागार में ऐसे बंदी रखे जाते हैं जिन्होंने पहली बार अपराध किया है और जिन्हें हिंसक नहीं

माना जाता। कारागार के इस प्रकार को ऐसी संस्था के तौर पर देखा जाता है जहाँ बंदियों को सुधरने का अवसर दिया जाता है। इस तरह के कारागार में ऐसे अपराधियों को भी रखा जा सकता है जिन्होंने लम्बी सज़ा पाने और हिंसक गतिविधियों में लिप्त होने के बावजूद अच्छे और अनुशासन बद्ध व्यवहार का परिचय दिया है। ऐसे अपराधियों के लिए कारागार की यह श्रेणी कड़े नियमों वाले कारागार से अपेक्षाकृत उदार माहौल में स्थानांतरण का प्रतीक होती है। इस श्रेणी में बाहरी नियंत्रण न्यूनतम रखा जाता है। इसमें सिर्फ एक बाड़ लगी होती है और परिसर का बड़ा हिस्सा खुला रखा जाता है। बंदियों की संख्या के अनुपात में प्रशासनिक कर्मचारियों की संख्या कम रखी जाती है। और समस्त बंदियों को एक साथ रखा जाता है। कारागार के इस रूप का प्राथमिक उद्देश्य यह होता है बंदी वृहत्तर समाज से न कटे। लिहाज़ा यहाँ उनके शैक्षिक और व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए विभिन्न कार्यक्रम चलाये जाते हैं।

मध्यम स्तर के सुरक्षा कारागार में अलग-अलग पृष्ठभूमि के ऐसे अपराधियों को रखा जाता है जिन्हें कम खतरनाक माना जाता है और जिनके कारागार से भागने की आशंका कम होती है। लेकिन जिन्हें इतना भी विश्वसनीय नहीं माना जाता कि उन्हें न्यूनतम सुरक्षा वाले कारागार में स्थानांतरित करने का जोखिम उठाया जाए। ऐसे कारागार में सुरक्षा का इंतज़ाम अपेक्षाकृत कड़ा होता है। बाहरी दीवारों पर कंटीले तारों के अलावा सुरक्षा के इलेक्ट्रॉनिक उपकरण लगाये जाते हैं। बंदियों के लिए आवास की व्यवस्था सामूहिक होती है जिसमें साझे टॉयलेट और स्नानघर की व्यवस्था होती है। यहाँ बंदियों की संख्या के अनुपात में प्रशासनिक अमला थोड़ा बड़ा रहता है। बंदियों को छोटे गोल कमरों में रखा जाता है और उनके शैक्षिक विकास व कामकाजी प्रशिक्षण के लिए प्रबंध किया जाता है।

उच्च सुरक्षा कारागार में लम्बी सज़ा पाये ऐसे अपराधियों को रखा जाता है जिन्हें समाज के लिए ज़्यादा खतरनाक समझा जाता है। ऐसे कारागार के चारों ओर मोटी, उंची और कंटीली दीवार बनाकर उसके कोनों पर सुरक्षा चौकी स्थापित की जाती है। ऐसे कारागारों के रखरखाव पर होने वाले खर्च को देखते हुए कई जगह ऊँची और मोटी दीवारों के बजाय कारागार की सीमा को बिजली के तारों से घेरने के प्रयोग भी किये गये हैं। यहाँ बंदियों को अलग थलग रखा जाता है। उनकी निगरानी के लिए प्रशासनिक कर्मचारियों की संख्या ज़्यादा होती है और मध्यम सुरक्षा कारागार की तरह शैक्षिक व अन्य सुविधाओं का स्तर नीचा होता है।

इन तीन श्रेणियों के अलावा कारागार की एक अन्य विशिष्ट श्रेणी भी होती है जहाँ न्यूनतम, मध्यम और उच्च

सुरक्षा कारागार में रह रहे असामान्य व्यवहार वाले बंदियों को स्थानांतरित किया जाता है। इस श्रेणी में मुख्यतः हिंसक प्रवृत्ति वाले बंदियों को रखा जाता है जिन्हें सामान्य बंदियों के साथ नहीं रखा जा सकता। कारागार के इस उच्चतम सुरक्षा श्रेणी वाले प्रारूप में ऐसे बंदियों को ही रखा जाता है जो अतीत में सह बंदियों पर हमला करने तथा दंगा भड़काने जैसे मामलों में दोषी पाये गये हैं। इन बंदियों को एकांत कारावास में रखा जाता है और उन्हें बाहरी लोगों से मिलने की अनुमति नहीं दी जाती।

अस्सी के दशक में कारागार की सुविधाओं का प्रबंधन निजी क्षेत्र को दिये जाने का प्रयोग शुरू किया गया। सुविधाओं का प्रबंध करने वाले ये निजी निगम लाभ कमाने के लिए काम करते हैं। हालाँकि निजी कारागार की अवधारणा अस्सी के दशक में ही अस्तित्व में आ चुकी थी पर बंदियों के व्यवहार को सुधारने के लिए सक्रिय एजेंसियों द्वारा चिकित्सा, स्कूल, सलाह, नर्सिंग होम, अनौपचारिक घर तथा शराब और नशीली दवाओं की लत के इलाज से जुड़ी सुविधाओं की आपूर्ति के लिए निजी निगमों को ठेके देने का चलन इससे पहले ही शुरू हो गया था।

पिछले दशकों में कारागार में लम्बित बंदियों की संख्या में कई गुणा इजाफ़ा हुआ है। इसके पीछे एक अहम कारण यह रहा है कि विभिन्न देशों की सरकारों ने नशीली दवाओं के प्रसार और व्यापार, आदि को लेकर कड़े क़ानून पारित किये हैं। इन क़ानूनों में इस बात पर विशेष जोर रहा है कि अपराधियों को ज़्यादा लम्बी अवधि के लिए कारागार में रखा जाए। बंदियों की बढ़ती संख्या के कारण सुधार और परिष्कार कार्यक्रमों के सामने कड़ी चुनौती खड़ी हो गयी है। मसलन कारागार के प्रबंधन और प्रशासन के लिए सुविधाओं के स्तर को बरकरार रखना एक समस्या बनता जा रहा है। उन्हें अब सीमित सुविधाओं के साथ ही व्यवस्था कायम करनी पड़ती है। बंदियों की यह बढ़ती भीड़ हिंसक घटनाओं, कारागार के कर्मचारियों पर होने वाले हमलों और नतीजतन सुधार कार्यक्रमों और सुविधाओं की बदहाली का सबब बनती जा रही है।

बंदियों की संख्या के साथ उनकी सामाजिक और जातीय पृष्ठभूमि में भी बदलाव आया है। अमेरिकी स्रोतों के अनुसार वहाँ पिछले समय में अफ्रीकी मूल, महिलाओं, किशोर तथा बेघर बार अपराधियों की संख्या में इजाफ़ा हुआ है। इसी तरह संक्रामक रोगों तथा मानसिक बीमारियों से ग्रस्त बंदियों की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इससे एक संकट यह पैदा हुआ है कि कारागार के प्रशासन को एक ही साथ अलग-अलग पृष्ठभूमि के बंदियों की समस्याओं का ध्यान रखना पड़ता है। फिलहाल स्थिति यह है कि वित्तीय सहायता के मौजूदा स्तर से बंदियों के स्वास्थ्य पर खर्च होने

वाले व्यय की ही भरपाई नहीं हो पाती। इसलिए सुविधाओं की बजट राशि में बढ़ोतरी किये जाने के बाद भी बंदियों के लिए चलाये जाने वाले कार्यक्रमों में कोई गुणात्मक वृद्धि इसलिए नहीं हो पा रही क्योंकि वह राशि नये कारागार के निर्माण पर खर्च हो रही है। इस तरह कारागार का प्रशासन बंदियों को स्वास्थ्य, शिक्षा और व्यावसायिक क्षेत्र में प्रशिक्षण देने के मामले में खुद को बँधा हुआ पाता है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, क़ानून, गोपनीयता, गृहविहीनता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जी.एल. मेज़ और एल.टी. विनफ्राई (2002), *कंटम्पेरी करेक्शंस*, वैड्सवर्थ, बेलमोंट.
2. जे.ए. इनसियाडी (1987), *क्रिमिनल जस्टिस*, दूसरा संस्करण, हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच, सैन डियागो.
3. जी. न्यूमैन (1985), *द पनिसमेंट रिस्पॉन्स*, हैरो एंड हेस्टन, न्यूयॉर्क.

—नरेश गोस्वामी

क्रांति

(Revolution)

क्रांति यानी रेवोल्यूशन की शाब्दिक व्युत्पत्ति क्रिया 'टु रिवोल्व' से हुई है। एक चक्र पूरा घूमने पर पहिये का ऊपरी हिस्सा नीचे और निचला हिस्सा ऊपर चला जाता है। किसी राजनीतिक व्यवस्था का पूरा बंदोबस्त उलट-पुलट देने वाले नाटकीय, दूरगामी और आमूल परिवर्तन को क्रांति की संज्ञा दी जाती है। क्रांति शब्द का प्रयोग काफ़ी ढीले-ढाले ढंग से किसी भी बड़े परिवर्तन के लिए रूपक के तौर पर भी होता है (जैसे, हरित क्रांति या श्वेत क्रांति)। लेकिन इसका मूल भाव ऐसी महत्त्वपूर्ण और विरल ऐतिहासिक घटनाओं से जुड़ा है जिनके कारण समाज और राजनीति वैसी नहीं रह जाती है जैसी पहले थी। ऐसी क्रांतियाँ अपने घटनाक्रम और भौगोलिक सीमाओं से परे जाते हुए मनुष्य के बौद्धिक मानस पर अपनी अपेक्षाकृत स्थायी छाप छोड़ जाती हैं। उनसे निकले हुए सिद्धांत, नारे और कार्यक्रम एक बुनियादी संदर्भ बिंदु बन जाते हैं (जैसे, अमेरिकी क्रांति और फ्रांसीसी क्रांति)। क्रांतियाँ वामपंथी भी हो सकती हैं (जैसे, रूस की बोल्शेविक क्रांति), और दक्षिणपंथी भी (जैसे, ईरान की

इस्लामिक क्रांति)। वे हिंसक और जनता की सीधी कार्रवाइयों पर आधारित भी हो सकती हैं (जैसे, फ्रांसीसी क्रांति), और शांतिपूर्ण व अहिंसक भी (जैसे, इंग्लैण्ड की ग्लोरियस रेवोल्यूशन)। वे अचानक घटित हो सकती हैं और उनकी प्रक्रिया लम्बी भी हो सकती है। दरअसल, कोई दो क्रांतियाँ एक सी नहीं होतीं, भले ही उनका घोषित विचारधारात्मक आधार एक सा हो (जैसे, मार्क्सवादी होते हुए भी रूसी और चीनी क्रांति के बीच भारी अंतर है)।

समाज-विज्ञान क्रांति की परिघटना को सत्ता हथियाने के लिए किये गये तख्ता-पलट, गृह युद्ध, और महज किसी विद्रोह से अलग करके देखता है। टॉकवील क्रांतियों को तीन क्रिस्मों में बाँटते हैं : राजनीतिक क्रांति, अचानक घटित होने वाली हिंसक क्रांतियाँ जो न केवल नये राजनीतिक निजाम की स्थापना करती हैं बल्कि समाज को भी बदल डालती हैं, और धीरे-धीरे पर सतत होने वाली क्रांतियाँ जो समाज को बुनियादी तौर पर परिवर्तित कर देती हैं। मार्क्सवादी क्रांतियों की पाँच श्रेणियाँ बताते हैं : प्राक्-पूँजीवादी, प्रारम्भिक पूँजीवादी, पूँजीवादी, पूँजीवादी-लोकतांत्रिक, प्रारम्भिक सर्वहारा और समाजवादी।

समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और इतिहास के अनुशासनों के तहत क्रांतियों और उनके कारणों का गहन अध्ययन किया गया है। जैक गोल्डस्टोन ने क्रांति संबंधी साहित्य का अवलोकन करके उसे चार श्रेणियों में बाँट कर देखने का प्रयास किया है। पहली पीढ़ी के विद्वानों ने क्रांति का अध्ययन करते हुए मुख्यतः वर्णनात्मक रवैया अपनाया। इन्हीं में से कुछ विद्वानों ने समाज के मनोविज्ञान में क्रांति के कारणों की खोज की। उन्होंने भीड़ के मनोविज्ञान का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

दूसरी पीढ़ी के विद्वानों ने क्रांतियों से साथ जुड़े 'क्या और क्यों' के प्रश्नों की विवेचना की। इस पीढ़ी के विद्वान मुख्यतः इस बात पर सहमत थे कि क्रांतियाँ सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से उपजी निराशा और आक्रोश का परिणाम होती हैं। लेकिन यह मानते हुए भी उन्होंने तीन अलग-अलग रवैये अपनाये। पहला रवैया संज्ञानात्मक मनोविज्ञान और कुंठा-आक्रमण से जुड़े सिद्धांतों का सहारा लेते हुए क्रांतियों को जनता के मानस में होने वाली उथल-पुथल का नतीजा बताने पर आधारित था। दूसरा रवैया टैलकाँट पार्सिस द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र की स्ट्रक्चरल-फंक्शनल थियरी का सहारा लेने वालों का है। यह थियरी समाज को विभिन्न संसाधनों, माँगों और उपप्रणालियों के संतुलन के रूप में देखती है। जब यह संतुलन बुरी तरह बिगड़ जाता है तो क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा होती है। तीसरा रवैया हित-समूहों के बीच होने वाली प्रतियोगिता के आईने में क्रांतियों के कारणों की खोज करते हैं। इनकी मान्यता है

कि जब एक या दो हित-समूह किसी राजनीतिक प्रणाली की स्थापित निर्णय प्रक्रिया से सहमत नहीं रह जाते और उनके पास अपने लक्ष्यों को वेधने के लिए जरूरी ताकत भी होती है तो क्रांति की नौबत आ जाती है।

तीसरी पीढ़ी के अध्येता मार्क्सवाद प्रणीत वर्ग संघर्ष की थीसिस पर निर्भर हैं। इस तरह के अध्ययनों में थैडा स्कोवपोल की रचना *स्टेट्स एंड सोशल रेवोल्यूशन* मशहूर है। उन्होंने क्रांतियों को समाज की राजकीय और वर्गीय संरचनाओं में होने वाले बुनियादी रूपांतरण और उसके साथ-साथ धरातल से उठने वाले वर्ग आधारित विद्रोहों की मौजूदगी के रूप में परिभाषित किया है। अगर तीसरी पीढ़ी के विद्वानों ने दूसरी पीढ़ी के दावों का खण्डन करते हुए अपनी बातें कही थीं, तो चौथी पीढ़ी के विद्वानों ने मार्क्सवादी स्कूल को आड़े हाथों लिया। इन लोगों की मदद 1979 की ईरानी और निकारागुअन क्रांतियों ने की। 1986 में फिलीपींस में हुई क्रांति और 1989 के युरोप में घटी घटनाओं ने क्रांतियों के बहु-वर्गीय चरित्र को रेखांकित किया।

शुरुआत में क्रांति के विचार का सरोकार महज एक समुचित राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना से था। सत्रहवीं सदी में जॉन लॉक के राजनीतिक सिद्धांत ने प्रतिरोध और क्रांति की गुंजाइशों की तरफ पहली बार स्पष्ट रूप से इशारा किया। उन्होंने कहा कि सरकार तो मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए होती है। हम उसमें अपना विश्वास आरोपित करते हैं, पर उसके पक्ष में अपने अधिकार नहीं छोड़ते। अगर सरकार उन प्राकृतिक अधिकारों का हनन करती है तो उसे विश्वासघात का दोषी समझा जाना चाहिए। ऐसी सरकार का विरोध करना जायज़ है, भले ही उसके लिए हिंसा का सहारा लेना पड़े। क्रांति के जरिए लोग सरकार से वह अधिकार ले सकते हैं जो उन्होंने उसे दिया है। साथ में लॉक ने यह भी कहा कि उनकी इस सिफ़ारिश का मतलब यह नहीं है कि मामूली सी बातों पर सरकारों को पलटा जाने लग। लोग तब तक राज्य के प्राधिकार का उल्लंघन करने के लिए तैयार नहीं होंगे जब तक सरकारी कार्रवाइयों के कारण उन्हें बड़े पैमाने पर नुकसान नहीं होगा।

अपने इन्हीं विचारों के आधार पर लॉक ने 1688 में हुई इंग्लैण्ड की ग्लोरियस रेवोल्यूशन का समर्थन किया जिसमें संवैधानिक राजशाही की स्थापना हुई जिसके आधार पर आगे चल कर संसदीय प्रणाली एक मानक बनती चली गयी। लॉक के इन विचारों का अट्टारहवीं सदी में हुई अमेरिकी क्रांति में उपयोग किया गया। लेकिन, ब्रिटिश प्रभुत्व से अपनी आजादी के लिए लड़ रहे अमेरिकी क्रांतिकारियों को यकीन था कि वे किसी बुनियादी परिवर्तन के लिए नहीं बल्कि एक बेहतर नैतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष कर रहे हैं। पुरानी व्यवस्था को नष्ट करना उनका उद्देश्य नहीं था। अमेरिकी

क्रांति उपनिवेशवाद के खिलाफ गणतांत्रिक मूल्यों की जीत होते हुए भी केवल शासकों और व्यवस्था के कुछ पहलुओं को ही बदल सकी। इसलिए उसे एक अधूरी क्रांति की संज्ञा भी दी जाती है। क्रांति को अनिवार्य तौर पर बुनियादी परिवर्तन का ही वाहक होना चाहिए : यह आग्रह 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद स्थापित हुआ जिसमें पुरानी व्यवस्था को खुले तौर पर जानबूझ कर नष्ट करने के कार्यक्रम पर अमल किया गया। इसके बाद हुई युरोपीय क्रांतियों के लिए फ्रांसीसी क्रांति एक मॉडल के रूप में ग्रहण की गयी। फ्रांसीसी क्रांति आधुनिक विश्व की ऐसी पहली घटना थी जिसके बाद क्रांति का मतलब नये समाज की रचना का पर्याय समझा जाने लगा। फ्रांसीसी क्रांति ने न केवल सामंतवाद के बंधन में जकड़े फ्रांस को आमूल-चूल बदल डाला, बल्कि सारी दुनिया को प्रभावित करने वाली ऐसी नयी विचारधाराओं को जन्म दिया जिनका दावा था कि नया समाज बनाने के लिए अतीत से कुछ लेना ज़रूरी नहीं होता।

उन्नीसवीं सदी से समाज वैज्ञानिकों ने क्रांति की परिघटना और उससे जुड़ी प्रक्रियाओं पर गहराई से सोचना शुरू किया। क्रांति का सर्वाधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय सिद्धांत देने का श्रेय कार्ल मार्क्स को जाता है। उन्होंने इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों का अध्ययन करने के बाद अपनी रचना *जर्मन आइडियॉलॉजी* में क्रांति को इतिहास की एक योजना के रूप में पेश किया जिसके तहत मानवता एक युग से दूसरे युग में छलांग मार कर प्रवेश करती है। इस नाटकीय परिवर्तन के घटित होने के लिए मार्क्स की शर्त है कि कई तरह के टकराव एक साथ घटित हों : जैसे, पुरानी संस्थाओं और आजादी के लिए छटपटा रही नयी उत्पादक शक्तियों के बीच, उच्च और निम्न वर्गों के बीच, पुरानी और नयी विचारधाराओं के बीच टकराव। मार्क्स के मित्र और प्रमुख सहयोगी फ्रेड्रिख एंगेल्स की मान्यता थी कि क्रांतियाँ मनमाने ढंग से आयोजित नहीं हो सकतीं। वे हमेशा और हर कहीं किन्हीं वर्गों-पार्टियों के नेतृत्व और इच्छा से स्वतंत्र परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम होती हैं। जब वर्ग-शक्तियों का संतुलन गड़बड़ा जाता है तो क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा हो सकती है। मार्क्स और एंगेल्स द्वारा दिये गये क्रांति के सिद्धांत के इर्द-गिर्द लेनिन के नेतृत्व में हुई रूस की बोल्शेविक क्रांति की सफलता ने पूरी बीसवीं सदी में होने वाली क्रांतियों की संरचना और उनसे जुड़ी हुई समझ पर गहरा प्रभाव डाला। लेकिन, इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि क्रांति के सिद्धांत के मामले में मार्क्सवादियों के बीच कोई व्यापक सहमति है। दरअसल, क्रांति संबंधी मार्क्सवादी विमर्श बहुत व्यापक और विविध है।

चूँकि क्रांति और परिवर्तन का चोली-दामन का साथ है, इसलिए क्रांति का विमर्श परिवर्तन के एक दूसरे माध्यम

‘सुधार’ को किसी क्रिस्म की वैधता देने से इनकार करता है। समाजवाद में विश्वास करने वाले क्रांतिकारियों की पीढ़ियाँ संसदीय राजनीति को सुधारवाद का पर्याय मान कर उसके विरोध की खुराक पर पली-बढ़ी हैं। क्रांतिकारी विचारकों की मान्यता है कि सुधार कभी बुनियादी स्थितियों को नहीं बदलते। वे केवल सतही परिवर्तन ही अंजाम दे पाते हैं। सुधार कभी भी निजी सम्पत्ति के संस्थागत रूपों को नहीं बदलते और इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था को टिकाये रखने के माध्यम बन जाते हैं। रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग 1899 में प्रकाशित अपनी रचना *रिफॉर्म ऑर रेवोल्यूशन* में जर्मन समाजवादियों के सुधारवादी रुझानों पर आक्रमण करते हुए उसे पूँजीवादी लोकतंत्र का ही एक रूप क्रार देती हैं। रोज़ा की स्पष्ट मान्यता थी कि संसदीय राजनीति के तहत होने वाला क्रमिक परिवर्तन सर्वहारा वर्ग के हितों की सेवा नहीं कर सकता। सुधारवाद के सबसे बड़े आलोचक तो लेनिन थे। उन्होंने अपनी विख्यात रचना *द स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* में लिखा है कि संसदीय चुनावों के जरिये एक निश्चित अवधि के बाद यह तय होता है कि शासक वर्ग का कौन सा हिस्सा और कौन सा नेता जनता का दमन और उत्पीड़न करेगा।

अधिकतर क्रांति संबंधी सिद्धांत किसी एक या दो क्रांतियों के अध्ययन पर आधारित हैं। उदाहरण के लिए उदारतावादी चिंतक हान्ना एरेंट 1963 में प्रकाशित अपनी रचना *ऑन रेवोल्यूशन* में अपना अधिकतर विश्लेषण इंग्लैण्ड और अमेरिका की क्रांति पर आधारित करते हुए निष्कर्ष निकालती हैं कि क्रांतियाँ आजादी की ललक और तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं की नाकामियों का फलितार्थ थीं। दरअसल, क्रांति का कोई सार्वभौम सिद्धांत प्रतिपादित करना तक्ररीबन असम्भव है, क्योंकि विभिन्न क्रांतियाँ अलग-अलग तरह के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक लक्षणों के संयोग का परिणाम होती है। 1979 में हुई ईरान की इस्लामिक क्रांति तो पश्चिम में विकसित उन सिद्धांतों का पूरी तौर पर उल्लंघन करती है जो क्रांति और प्रगतिशील विचारों को अनिवार्य तौर पर जोड़ कर देखते हैं। ऐसी ही बहस 1989 से 1991 के बीच पूर्वी युरोप में हुए राजनीतिक परिवर्तनों के बारे में है। इस दौरान इस क्षेत्र के कई देशों में तत्कालीन कम्युनिस्ट हुकूमतों को क्रांतिकारी प्रतीत होने वाली जन-कारवाइयों के जरिये उखाड़ फेंका गया, और वहाँ ऐसी शासन-व्यवस्थाएँ स्थापित की गयीं जो किसी भी तरह से समाजवादी नहीं कही जा सकतीं।

देखें : अमेरिकी क्रांति, अलेक्सिस द टॉकवील, क्यूबाई क्रांति, क्रांति, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, बोल्शेविक क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, हान्ना एरेंट।

संदर्भ

1. जे.ए. गोल्डस्टोन (सम्पा.) (1993), *रेवोल्यूशंस : थियरीट क्ल, कम्परेटिव ऐंड हिस्टोरिकल स्टडीज़*, हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच, न्यूयॉर्क.
2. एच. ड्रैपर (1978), *कार्ल मार्क्सिज़ थियरी ऑफ रेवोल्यूशन*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. हान्ना अरेंट (1963/1991), *ऑन रेवोल्यूशन*, पेंगुइन क्लासिक्स, नया संस्करण, लंदन.
4. इमैनुएल नेस और एम.ए. माल्डेन (सम्पा.) (2009), *द इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेवोल्यूशन ऐंड प्रोटेस्ट : 1500 टू प्रजेंट*, विली ऐंड संस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श

(Revolution: Marxist Discourse)

जिस तरह 1789 की फ्रांसीसी क्रांति ने उन्नीसवीं सदी की क्रांतियों के लिए मॉडल और सैद्धांतिक आधार का काम किया, उसी तरह मार्क्सवाद के संस्थापकों (कार्ल मार्क्स-फ्रेड्रिख एंगेल्स) द्वारा विकसित क्रांति के विमर्श ने पूरी बीसवीं सदी में कई महत्वपूर्ण क्रांतियों में प्रधान भूमिका निभायी। रूस की बोलशेविक क्रांति तो मानवीय इतिहास की एक युगप्रवर्तक घटना है। चीन की नव-जनवादी क्रांति, क्यूबाई क्रांति और वियतनामी क्रांति के महत्त्व को भी कम करके नहीं आँका जा सकता। मार्क्स के क्रांति संबंधी सिद्धांत की व्याख्याएँ उनके बाद भी लगातार जारी रहीं। लेनिन, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, ट्रॉट्स्की, माओ और अंतोनियो ग्राम्शी ने उसकी रोशनी में अपने देश-काल को नये सिरे से समझा और उसके बुनियादी पहलुओं को छोड़े बिना नये सूत्रीकरण किये।

क्रांति का मार्क्सवादी विमर्श अपनी पेचीदगी, अपनी विकासमान प्रवृत्तियों और कई बारीक अंतर्विरोधों के कारण आसानी से पकड़ में नहीं आता। इसलिए इस पर सिलसिलेवार नज़र डालना ठीक होगा। मार्क्स और एंगेल्स के चिंतन पर फ्रांसीसी क्रांति का काफी असर था। ख़ास कर वे 1815 के बाद की पीढ़ी के फ्रांसीसी उदारतावादी विचारकों की इस व्याख्या से प्रभावित थे कि क्रांति ने कुलीन व सामंती वर्ग के हाथों से सत्ता छीन कर पूँजीवादी वर्ग के हाथों में थमा दी। 1848 के *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* का लेखन करते हुए उन्हें लगा कि उनके इतिहास के सिद्धांत में फ्रांसीसी क्रांति का यह वर्ग आधारित विश्लेषण पूरी तरह से फ़िट बैठता है। मार्क्स इससे पहले 1843 में इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रांस की

क्रांतियों का एक अध्ययन कर चुके थे जिसके संकेत उनकी नोट बुकों में दर्ज हैं। उनकी मान्यता बनी थी कि ये तीनों क्रांतियाँ मुख्यतः 'बूर्ज्वा क्रांतियाँ' थीं जिनके हरावल में मध्यवर्ग था और बुनियाद में उदीयमान पूँजीपति वर्ग द्वारा उत्पादन का विस्तार करने की आकांक्षा थी। मैनिफेस्टो में मार्क्स ने भविष्यवाणी भी की थी कि जर्मनी की विशेष परिस्थितियों के कारण पहले वहाँ पूँजीवादी क्रांति होगी, और फिर उसके फ़ौरन बाद सर्वहारा क्रांति हो जाएगी। जून, 1848 में पेरिस के मज़दूरों के विद्रोह की पराजय से मार्क्स ने सबक सीखा कि मेहनतकश अपनी सत्ता कुछ जोशीले और पराक्रमी साथियों की अचानक हमला करने की रणनीति से नहीं जीत सकते। ऐसी जीत के लिए उन्हें एक सम्पूर्ण वर्ग की ऊर्जा की दरकार होगी। इसी अनुभव की रोशनी में मार्क्स ने क्रांति के बाद 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया।

पिछली प्रविष्टि में हम देख चुके हैं कि किस तरह अपनी रचना *जर्मन आइडियालॉजी* में मार्क्स और एंगेल्स ने क्रांति को इतिहास की एक योजना के रूप में पेश किया जिसके तहत मानवता एक युग से दूसरे युग में छलाँग मार कर प्रवेश करती है। इस नाटकीय परिवर्तन के घटित होने की उन्होंने यह शर्त रखी थी कि पुरानी संस्थाओं और नयी उत्पादक शक्तियों के बीच, उच्च और निम्न वर्गों के बीच, पुरानी और नयी विचारधाराओं के बीच टकराव की स्थितियाँ एक साथ घटित होना ज़रूरी हैं। मार्क्स सीधे-सीधे कम्युनिस्ट क्रांति सम्पन्न करने के तत्कालीन दौर में प्रचलित विचारों से भी सहमत नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि साम्यवाद पूँजीवाद के बाद घटित नहीं हो सकता। पूँजीवाद ने जो नया मज़दूर वर्ग पैदा किया है, पहले वह अपनी क्रांति के जरिये ऐसा सामाजिक रूपांतरण करेगा जिसके हाथों मानवता की स्लेट पूरी तरह से साफ़ हो जाएगी। ऐसे समाजवाद की स्थापना के बाद ही साम्यवाद के लिए भौतिक परिस्थितियाँ तैयार हो सकेंगी।

लेकिन 1848-49 के दौरान जर्मनी के वामपंथी रैडिकल आंदोलन के भीतर काम करते हुए इन दोनों दार्शनिकों ने स्वयं देखा कि पूँजीपति वर्ग के दुलमुल और समझौतापरास्त रवैये के कारण किस तरह क्रांतिकारी प्रयास पराजित हो गये। इस अनुभव के परिणामस्वरूप उन्होंने पहले तो मैनिफेस्टो में उल्लिखित कई विचारों का विस्तार 'स्थायी क्रांति' के सिद्धांत में किया। इसके बाद मार्च, 1850 में कम्युनिस्ट लीग के घोषणापत्र में उन्होंने सुझाव दिया कि अगली बार क्रांति की चिंगारी फूटने पर जुझारू मज़दूरों को अलग से संगठित होना चाहिए, ताकि वे मध्यवर्ग पर पूँजीवादी-लोकतांत्रिक सुधार पूरे करने के लिए दबाव डाल सकें। फिर उसके तुरंत बाद मज़दूरों के संगठन को

पहलकदमी मध्यवर्ग के हाथ से छीन कर अपनी सत्ता की स्थापना करनी चाहिए।

अपने इस रैडिकल प्रतिपादन के बाद युरोप के आर्थिक इतिहास पर गौर करते हुए मार्क्स-एंगेल्स को लगा कि 1847 की व्यापारिक मंदी के कारण पैदा हुई बेचैनियों के कारण पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा और मजदूर वर्ग क्रांति के मूड में आया था। जब तक ऐसी ही आर्थिक गिरावट फिर से नहीं आती, क्रांतिकारी परिस्थितियाँ आसानी से पैदा नहीं होंगी। लेकिन, बाक्री जगहों पर ताकत की ज़बरदस्त टक्कर के बिना क्रांति सम्पन्न नहीं हो पायेगी। मार्क्स का खयाल था कि इंग्लैण्ड जैसे लम्बी राजनीतिक परम्पराओं वाले देश शायद क्रांति की अनिवार्यता से बच निकलें। उन्हें फ्रांस का मजदूर वर्ग भी क्रांति करने लायक ताकत से सम्पन्न नहीं लग रहा था। केवल जर्मनी के तेज़ उद्योगीकरण को देख कर उन्हें लग रहा था कि वहाँ का मजदूर वर्ग क्रांतिकारी पहलकदमी ले सकता है।

युरोप में क्रांतिकारी उभार की कमज़ोर सम्भावनाओं के बारे में मार्क्स का संदेह सही साबित हुआ। 1905 तक रूस में आधे मन से हुई क्रांति के अलावा युरोप में कोई दूसरे अनुकूल हालात पैदा नहीं हुए। इस क्रांति में बूर्ज्वा वर्ग सत्ता पर तो क़ब्ज़ा नहीं कर पाया, पर उसने पुरानी व्यवस्था के भीतर ही औद्योगिक वृद्धि बेरोकटोक जारी रखने की हैसियत ज़रूर प्राप्त कर ली। एंगेल्स 1875 से ही रूस में क्रांति की सम्भावनाएँ देख रहे थे। उन्हें लग रहा था कि ज़ारशाही का ढाँचा इस क्रूर दरक गया है कि एक ज़रा से धक्के से वह ढह जाएगा। लेकिन, यह ज़रा सा धक्का भी आसान नहीं था।

1914 में मुख्यतः युरोप की धरती पर प्रथम विश्व-युद्ध शुरू हुआ। लेनिन रूस में पहले से क्रांति के हरावल दस्ते के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन में लगे हुए थे। 1905 के स्वतःस्फूर्त घटनाक्रम के समय उनकी यह दलबंदी छोटी और अपेक्षाकृत प्रभावी नहीं थी। लेकिन, प्रथम विश्व-युद्ध के समय उन्होंने अपनी क्रांति की थीसिस प्रतिपादित करने में देर नहीं की। उन्होंने कहा कि हर क्रांतिकारी परिस्थिति क्रांति को अपने-आप जन्म नहीं देती, जब तक जनता विद्रोह के लिए तैयार न हो और साथ में उच्च वर्ग पुरानी व्यवस्था को जारी रखने के लिहाज़ से पूरी तरह बेकार न हो गया हो। लेनिन का दावा था कि ये परिस्थितियाँ पार्टियों और वर्गों की इच्छा से स्वतंत्र होती हैं। लेनिन के अनुसार समाजवादी क्रांति मजदूरों के एक हमले से पूरी नहीं होगी, बल्कि उसके लिए सभी मोर्चों पर चौतरफ़ा चलाये गये संघर्षों के मिले-जुले प्रभाव की ज़रूरत होगी। 1917 में ज़ार द्वारा थोपे गये निष्कासन से वापस आकर लेनिन ने महसूस किया कि विश्व-युद्ध ने स्थिति को पूरी तरह से बदल दिया है, और पूँजीपति वर्ग की अस्थायी सरकार को एक झटके में खत्म करने का क्षण आ चुका है।

अक्टूबर की सफल क्रांति के बात लेनिन और अन्य बोल्शेविक नेताओं को लगा कि इससे प्रेरित हो कर पूरे युरोप में क्रांति की चिंगारियाँ फूट पड़ेंगी। पर उनकी उम्मीदें पूरी तरह से ग़लत साबित हुईं। बोल्शेविक अकेले पड़ गये और जल्दी ही लेनिन, रोज़ा और काउत्स्की जैसे दूसरे मार्क्सवादियों के बीच अक्टूबर क्रांति के 'सच्चे समाजवादी चरित्र' को लेकर अलग-अलग क्रिस्म का विवाद छिड़ गया। रोज़ा ने बोल्शेविकों के हरावलवाद पर चोट की और उनके रवैये में लोकतंत्र की कमी रेखांकित की। काउत्स्की ने बोल्शेविकों पर सर्वहारा तानाशाही की आड़ में आतंक की मदद से सत्ता में बने रहने का आरोप लगाया। बदले में लेनिन ने उन पर सुधारवादी होने का लांछन मढ़ा।

युरोप में हुए क्रांति के कुछ अन्य प्रयास जब बुरी तरह नाकाम हो गये, तो अपने देशनिकाले के दौरान ट्रॉट्स्की ने प्रस्थापना दी कि समाजवादी क्रांति किसी एक देश में पूरी नहीं हो सकती। उसे सतत जारी रहना होगा, जब तक कि सारी दुनिया समाजवादी नहीं हो जाती। ज़ाहिर है कि ट्रॉट्स्की इतिहास की सभी विच्छिन्नताओं को नज़रअंदाज़ करके ही यह थीसिस दे सकते थे। उधर इटली में अंतोनियो ग्राम्शी अपने कारवास के दौरान चिंतन करते हुए विपरीत निष्कर्षों पर पहुँचे। उन्होंने सतत क्रांति की थीसिस को 1848 के बाद हुए राजनीतिक विकास की तरफ़ से आँखें बंद कर लेने की देन बताया। उनका कहना था कि ख़ास तौर से 1870-71 के बाद संसदीय राजनीति, ट्रेड यूनियन राजनीति, दलीय प्रणाली और नौकरशाही चालित राज्य की ताकत में काफ़ी बढ़ोतरी हुई है। उन्होंने इटली की परिस्थितियों में मेज़िनी के नेतृत्व में हुए सक्रिय विद्रोह और धैर्यपूर्वक तैयारी के साथ की साथ की जाने वाली 'पैसिव रेवोल्यूशन' की उस स्थिति से तुलना पेश की जिसके प्रभाव में मनुष्य के मानस में 'आणुविक परिवर्तन' आ जाता है और सामाजिक शक्तियों का विन्यास पूरी तरह से बदल जाता है। ग्राम्शी की स्थापना यह थी कि इन राजनीतिक परिवर्तनों के प्रभाव में पूरा का पूरा युरोप ही पैसिव रेवोल्यूशन की तरफ़ बढ़ रहा है। 1945 के बाद युरोपीय समाजवाद भी कुछ-कुछ इसी तरह के रास्ते पर चलता दिखाई दिया।

पचास के दशक में क्रांति के मार्क्सवादी विमर्श पर माओ त्से-तुंग की चीनी सफलता की छाया भी पड़ी। माओ ने ऐलान किया कि क्रांति कोई कशीदाकारी या चाय-पार्टी नहीं है। वह तो एक हिंसक कार्रवाई है जिसके तहत एक वर्ग दूसरे का तख़्ता पलट देता है।

लेकिन, साठ के दशक के बाद सोवियत संघ ने भी मान लिया कि समाजवाद शांतिपूर्ण तौर-तरीकों से भी स्थापित किया जा सकता है। उसके लिए हिंसक क्रांति करने की कोई ज़रूरत नहीं है। हालाँकि इसी दशक में क्यूबा में

फ़िडेल कास्ट्रो के नेतृत्व में छापामार युद्ध के जरिये सत्ता दखल किया गया। उधर चीन में माओ ने कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर सत्ता संघर्ष में जीत हासिल करने के लिए 'सतत क्रांति' को फिर से पकड़ा और अति-क्रांतिकारी रवैया अख्तियार करते हुए समाजवादी खेमे के नेतृत्व के लिए सोवियत संघ से होड़ की। इसका नतीजा समाजवादी खेमे में फूट के रूप में निकला।

क्रांति का मार्क्सवादी विमर्श इस समय ग्लोबल पैमाने पर बौद्धिक वैधता के संकट का सामना कर रहा है। हथियारों के दम पर कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सत्ता पर कब्जा करने की सम्भावनाओं (नेपाल जैसे राजशाही से पीड़ित छोटे से और विश्व राजनीति के हाशिए पर पड़े देश को छोड़ कर) को देखने जैसा क्रांतिकारी उत्साह कोई मार्क्सवादी बुद्धिजीवी फिलहाल दिखाने के लिए तैयार नहीं है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लागे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. रोबिन ब्लैकबर्न (सम्पा.), *रेवोल्यूशन ऐंड क्लास स्ट्रगल : अ रीडर इन मार्क्सिस्ट पॉलिटिक्स*, ब्राइटन, 1978
2. एरिक जे. हॉब्सबॉम, *रेवोल्यूशनरीज़*, वाइडनफ्रील्ड ऐंड निकल्सन, लंदन, 1973
3. लियोन ट्रॉट्स्की, *द परमानेंट रेवोल्यूशन ऐंड रिज़ल्ट्स ऐंड प्रोस्पेक्ट्स*, पायनियर, न्यूयॉर्क, 1962
4. अंतोनियो ग्राम्शी, *सिलेक्शंस फ्रॉम द प्रिज़न नोटबुक्स*, लारेंस ऐंड विशार्ट, लंदन, 1929-35 (1971)
5. फ्रांज़ मिशेल, *माओ ऐंड द परपीचुअल रेवोल्यूशन*, बेरंस/बुडबरी, न्यूयॉर्क, 1981

— अभय कुमार दुबे

काल्पनिक समाजवाद

(Utopian Socialism)

समाजवादी विचार के इतिहास में आम तौर पर मार्क्स से पहले की अवधि को काल्पनिक समाजवाद के दौर की संज्ञा दी जाती है। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से लेकर फ्रांस में हुई 1848 की क्रांति तक (जिसके तीन दिन पहले ही *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* का प्रकाशन हुआ था) समाजवादी आंदोलन की प्रारम्भिक भित्ति तीन विचारकों और समाज-द्रष्टाओं की कृतियों और गतिविधियों के आधार पर तैयार हुई। ये थे फ्रांस के सैं-सिमों और चार्ल्स फूरिए, और इंग्लैण्ड के रॉबर्ट ओवेन। मार्क्स और एंगेल्स ने इन तीनों के विचारों से प्रभाव भी ग्रहण किया, लेकिन साथ में अपने 'वैज्ञानिक समाजवाद' को इनके 'काल्पनिक समाजवाद' के बरक्स रख कर पेश किया। *मैनिफेस्टो* में 'क्रिटिकल-यूटोपियन सोशललिज़म' शीर्षक के तहत इन चिंतकों को कुछ इस तरह परिभाषित किया गया है : 'वर्ग संघर्ष की अविकसित स्थिति और उनके अपने माहौल के कारण इस क्रिस्म के समाजवादी खुद को सभी तरह की वर्ग-शत्रुताओं से परे मान बैठे थे। वे समाज के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि सर्वाधिक सुविधाभोगियों तक की स्थिति में सुधार करना चाहते थे। यही वजह है कि वे बिना वर्ग-भेद किये हुए आदतन पूरे समाज से अपील करते रहते थे, और कुल मिला कर प्राथमिकता शासक वर्ग को ही मिल जाती थी।' मार्क्स ने कहा कि ये समाजवादी चिंतक सभी तरह की राजनीतिक और क्रांतिकारी कार्रवाई को खारिज करके छोटे-छोटे प्रयोगों, शांतिपूर्ण प्रयासों, शिक्षा और सुधार के जरिये एक नये सामाजिक धर्म-सिद्धांत की स्थापना करना चाहते थे जो विफल होने के लिए अभिशप्त था। इस मार्क्सवादी विमर्श की प्रधानता के कारण मार्क्स-पूर्व समाजवादी चिंतकों के कृतित्व पर समाज वैज्ञानिकों ने आज तक अपर्याप्त ध्यान ही दिया है। यहाँ तक कि उस दौर के अन्य चिंतकों (जैसे प्रूथों, क्रोपाटकिन, ब्लांकी) के बारे में मार्क्स और एंगेल्स की टिप्पणियों को ही काफ़ी मान लिया गया है।

आगे चल कर एंगेल्स की रचना *सोशललिज़म : यूटोपियन ऐंड साइंटिफिक* ने इस सिलसिले में मार्क्सवादी विमर्श को एक निश्चित दिशा दे दी। सैं-सिमों, फूरिए और ओवेन का विमर्श धीरे-धीरे बौद्धिक फ़ैशन से बाहर होता चला गया। यह मान लिया गया कि समाजवाद को मज़दूर वर्ग के विशिष्ट हितों से न जोड़ पाने, वर्ग-संघर्ष के महत्त्व को न समझ पाने और सर्वहारा की क्रांतिकारी भूमिका को न पहचान पाने के कारण समाज-परिवर्तन के इन प्रयासों को समय के साथ तिरोहित हो ही जाना था। लेकिन सैं-सिमों की

रचना लेटर्स फ्रॉम एन इनहेबिटेंट ऑफ़ जिनेवा (1802), फूरिए की कृति थियरी ऑफ़ द फ़ोर मूवमेंट्स (1808) और ओवेन की पुस्तक अ न्यू व्यू ऑफ़ सोसाइटी (1812-16) का जायजा लेने से पता चलता है कि मनुष्य और उसकी दुनिया को बदलने के लिहाज़ से इन तीनों के पास कई अंतर्दृष्टियाँ थीं। तीनों विचारकों को एक पलड़े में रख कर तौलना भी उचित नहीं लगता। अगर तीनों में समानताएँ थीं, तो कई मुद्दों पर वे अलग-अलग दृष्टिकोण भी अपनाते थे। इनके बीच एक उल्लेखनीय अंतर इंग्लैण्ड और फ्रांस की भिन्न स्थितियों का भी था।

फ्रांस में सैं-सिमों और फूरिए ने 1789 की फ्रांसीसी क्रांति की विफलताओं का संबंध ज्ञानोदय की अवधि में विकसित कुछ विचारों से जोड़ा। उन्हें लग रहा था कि ज्ञानोदय ने मानवीय प्रकृति को जिस तरह समझा, उसी के कारण क्रांति विनाशकारी रास्ते की तरफ़ भटक गयी। इसी आधार पर दोनों ने मनुष्य की सहजात प्रकृति के बारे में अपनी अलग-अलग धारणाएँ बनायीं और सुधार के ज़रिये नयी समाज-व्यवस्था गढ़ने की मुहिम चलायी। सैं-सिमों और फूरिये के मुताबिक़ चूँकि मनुष्य का मानस बदला जा सकता है इसलिए उनकी रची गयी व्यवस्था में रहने वाले लोग परस्पर अन्योन्यक्रिया करते हुए समरसता उपलब्ध कर सकेंगे। जाहिर था कि इस सामाजिक परियोजना में ज्ञानोदय के विचारों की आलोचना निहित थी। दूसरी ओर ओवेन के सरोकार काफ़ी-कुछ ज्ञानोदय की बौद्धिक विरासत के अनुकूल थे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य का चरित्र उसके बाहरी हालात बनाते हैं। इसलिए समाज में सुधार के माध्यम से ऐसे हालात बनाये जाने चाहिए जिनमें स्पर्धा और टकराव के बजाय मैत्री और सहयोग के माध्यम से आनंद और सुख की उपलब्धि की जा सके।

अंतर केवल फ्रांस और इंग्लैण्ड की परिस्थितियों में ही नहीं था, सैं-सिमों और फूरिए के अनुयायी भी एक-दूसरे से स्पर्धा कर रहे थे। सैं-सिमों ने फ्रांसीसी क्रांति के 'विनाशकारी उदारतावाद' के मुकाबले समाज के नये और सकारात्मक पुनर्संगठन पर जोर दिया। उनकी मान्यता थी कि हर मनुष्य समाज में अपने मौजूदा स्थान से ऊँची हैसियत प्राप्त करना चाहता है, भले ही वह कितनी ही मामूली क्रिस्म की क्यों न हो। इस प्रवृत्ति के कारण उसके भीतर आत्मकेंद्रीयता आ जाती है जिसे लगातार शिक्षा और आचरण के ज़रिये दूर करना होगा। सैं-सिमों ने सामंती और फ़ौजी नियंत्रण के बजाय औद्योगिक सरबराहों के नियंत्रण को उचित माना। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट धर्मों को जड़सूत्रवादी क्रार दे कर ख़ारिज करने के बाद उन्होंने समाज को आध्यात्मिक दिशा देने की जिम्मेदारी चर्च के बजाय वैज्ञानिक मानस के धनी लोगों को देने की पैरोकारी की। पहले सैं-सिमों मानते थे कि उत्पादक श्रम का नियंत्रण करने वाले

लोगों के हाथों में समाज का शासन रहना चाहिए। लेकिन अपनी अंतिम रचना नोवू क्रिश्चयनिज़म में उन्होंने ग़रीबों पर जोर दिया और ईसाइयत को उसके बुनियादी पहलुओं तक सीमित करके एक नये बिरादराना धर्म की स्थापना की वकालत की। उन्होंने सिद्धांत दिया कि पूरे समाज का पुनर्गठन सर्वाधिक दरिद्र वर्ग की नैतिक और भौतिक समस्याओं के उन्मूलन के नज़रिये से करना ज़रूरी है।

फूरिए को यकीन था कि मनुष्य मुख्यतः 12 क्रिस्म की कामनाओं से संचालित होता है जिसके मुताबिक़ समाज 810 क्रिस्म के चरित्रों में बँटा रहता है। इस लिहाज़ से गणना करके फूरिए ने फ़ार्मूला दिया कि एक सामाजिक इकाई (फ़ालांक्स) में 1620 लोग होने चाहिए, क्योंकि छोटी सामाजिक इकाई में ही परस्पर सहयोग और सरोकार सम्भव है। समाज को इस तरह की छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट कर नये समाज की परियोजना लागू करने के इच्छुक फूरिए का ख़याल था कि दुनिया में एक दिन इस तरह की साठ लाख इकाइयाँ होंगी जिन पर वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ़ फ़ालांक्स का शासन होगा। फूरिए ने कल्पना की थी कि ये छोटी इकाइयाँ चार मंज़िले ग्रांड होटलों में रहेंगी जिनमें सबसे ऊपर के तल्ले में सबसे अमीर और सबसे नीचे के तल्ले में सबसे ग़रीब लोग रहेंगे। जो जैसा काम करेगा उसके पास वैसी सम्पत्ति होगी, और व्यक्ति को उसकी दिलचस्पी और इच्छाओं के हिसाब से काम दिया जाएगा। फूरिए तिजारत को सभी बुराइयों की जड़ मानते थे। चूँकि तिजारत यहूदियों से जोड़ कर देखी जाती थी इसलिए उनका आग्रह था कि छोटी इकाइयों के समुदाय में यहूदियों से खेती का काम करवाया जाना चाहिए। मानवजाति की मुक्ति में शिक्षा की भूमिका पर फूरिए ने विशेष बल दिया। 'फ़ेमिनिज़म' या नारीवाद शब्द का पहली बार प्रयोग करने का श्रेय भी फूरिए को ही जाता है। हालाँकि वे 'समान अधिकार' के विमर्श को पसंद नहीं करते थे, फिर भी 1808 में प्रकाशित अपनी पुस्तक थियरी ऑफ़ द फ़ोर मूवमेंट्स में उन्होंने दावा किया था कि स्त्रियों को आज़ादी मुहैया कराना सभी तरह की सामाजिक प्रगति का आधारभूत सामान्य सिद्धांत होना चाहिए।

नया समाज बनाने से संबंधित ओवेन के प्रस्ताव सैं-सिमों और फूरिए के मुकाबले कहीं अधिक व्यावहारिक थे। जनता की बदहाली ख़त्म करने के लिए उन्होंने इंग्लैण्ड की तत्कालीन सरकार को सुझाव दिया कि उसे बारह-बारह सौ लोगों के छोटे-छोटे गाँव क़ायम करने में अपने संसाधन ख़र्च करने चाहिए। ये समुदाय 'सहयोग आधारित गाँव' होंगे और अपना जीवन-यापन करने के लिए बाज़ार से न्यूनतम ख़रीदारी करते हुए स्वयं उत्पादन करेंगे। अगर उनके पास कुछ अधिशेष बचता है तो उसका व्यापार करके गाँव वाले उन चीज़ों को ख़रीदेंगे जिनका उत्पादन उनके लिए मुमकिन

नहीं है। ओवेन ने तर्क दिया कि इंग्लैण्ड के श्रमिकों को अगर बेहतर माहौल में काम करने का मौका दिया जाए तो वे न केवल अपनी गरीबी दूर सकते हैं, बल्कि राष्ट्र की समृद्धि में भी योगदान कर सकते हैं। न्यू लैनार्क स्थित मिलों के मालिक और प्रबंधक की हैसियत से ओवेन ने अपने नज़रिये को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया। उन्होंने इस कारखाने को शैक्षिक और औद्योगिक सुधार की प्रयोगशाला में बदल दिया। जल्दी ही ओवेन और उनका कारखाना अपनी इन गतिविधियों के कारण चर्चित होने लगा। ओवेन ने प्रत्येक खोली के ऊपर एक-एक कमरा और बनवाने से शुरुआत की ताकि हर मज़दूर के पास कम से कम दो कमरे हो जाएँ। उन्होंने कस्बे में सड़कें बनवानी शुरू कीं, कचरा उठवाने का इंतजाम किया और घरों के बाहर सफ़ाई रखने के लिए मज़दूरों की कमेटियाँ गठित कीं। इसके बाद ओवेन ने कस्बे की सारी दुकानें ख़रीद लीं। उन्होंने खाद्य और ईंधन थोक में ख़रीदा और मुनाफ़े की कोई चिंता नहीं की। इससे मज़दूरों को कम दर पर ज़रूरत की चीज़ें मिलने लगीं। केवल इतनी कारवाइयों से ही मज़दूरों की जीवन-स्थितियों में 25 फ़ीसदी का सुधार हो गया। ओवेन ने एक सामुदायिक कोष भी स्थापित किया जिसमें प्रत्येक मज़दूर अपनी आमदनी के छठें हिस्से का योगदान करता था ताकि सभी को मुफ्त स्वास्थ्य सेवाएँ हासिल हो सकें।

देखें : अराजकतावाद, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-1 से 4 तक, फ्रेड्रिख़ एंगेल्स, फ्रांस्वाँ-चालर्स मारी फ़ूरिये, रॉबर्ट ओवेन, सैं-सिमों।

संदर्भ

1. जॉर्ज लिचहीम (1969), *द ऑरिजिंस ऑफ़ सोशलिज़्म*, वीडनफ़ेल्ड एंड निकल्सन, लंदन.
2. जाक रांसिएर (2009), *सर्वहारा रातें : उन्नीसवीं सदी के फ्रांस में मज़दूर-स्वप्न*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-सराय-वाणी, नयी दिल्ली.
3. रॉबर्ट ओवेन (1991), *अ न्यू व्यू ऑफ़ सोसाइटी (1813-14)*, कैसेल, न्यूयॉर्क.
4. जी.सी. इगर्स (सम्पा.) (1958), *डॉक्ट्रिन ऑफ़ सैं-सिमों : एन एक्सपोज़ीशन*, बीकन, बोस्टन.

— अभय कुमार दुबे

काला राष्ट्रवाद

(Black Nationalism)

एक सामान्य विचार के रूप में काला राष्ट्रवाद या तो अफ़्रीका की परिघटना है या किसी भी दूसरे महाद्वीप की जहाँ अफ़्रीकी मूल के लोग रहते हैं। इसका उभार संयुक्त राज्य अमेरिका में तक्ररीबन दो शताब्दी पहले एक सामाजिक आंदोलन के रूप में उभर कर सामने आया था। यह मुख्य रूप से अफ़्रो-अमेरिकी प्रतिरोध परम्परा और संयुक्त राज्य अमेरिका में नस्लवाद और दमन के प्रतिरोध से जुड़ा रहा है। काला राष्ट्रवाद संयुक्त राज्य अमेरिका में नस्ली दासता की प्रतिक्रिया के तौर पर 'मुक्ति के राष्ट्रवाद' के रूप में सामने आया। अमेरिका में अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के दौरान नस्ली दासता का संस्थानीकरण करके अमेरिकी रंगभेद की स्थापना कर दी गयी थी। अमेरिकी गृह-युद्ध के समय दासता के क्रान्ती रूप से ख़त्म हो जाने पर भी इसका प्रभाव क़ायम रहा। श्वेत अमेरिकी राष्ट्रवाद द्वारा काले लोगों का शोषण और बहिर्वेशन किया जाता रहा। इस श्वेत राष्ट्रवाद का उभार भी अमेरिकी क्रांति के बाद ही हुआ था। इसकी संरचना समतावादी लोकतंत्र और जैविक नस्लवाद के विचारधारात्मक मिलन से बनी थी। सैद्धांतिक रूप से इसे नस्ली अल्पसंख्यकों की मुक्ति के राष्ट्रवाद के रूप में भी समझा जा सकता है। राजनीतिक रूप से यह प्रगतिशील भी है और कुछ अर्थों में प्रतिक्रियावादी भी। इसे एक ऐसे विचार और आंदोलन के रूप में देखा जाता रहा है जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका और दूसरे अफ़्रीकी देशों में राजनीतिक जागरूकता लाने में ज़बरदस्त भूमिका अदा की है।

काले राष्ट्रवाद की शुरुआत करने वाले नेताओं में से एक मार्टिन रॉबिंसन डिलेनी (1812-1985) ने अमेरिका में कालों की स्थिति को आंतरिक उपनिवेशवाद की संज्ञा दी। यहाँ काले लोगों को अपना अस्तित्व क़ायम रखने के लिए समानान्तर संस्थाएँ बनानी पड़ीं। यहाँ तक कि उन्हें 'ब्लैक चर्च' का भी निर्माण करना पड़ा। इस तरह के पहले चर्च की स्थापना रिचर्ड ऐलेन द्वारा 1786 में की गयी। इस तरह की संस्थाओं ने एक ऐसा सामाजिक 'स्पेस' बनाया, जिसमें अर्ध-स्वतंत्र काले नागर समाज की निर्मिति हुई। धीरे-धीरे इस आधार पर काले अल्पसंख्यक राष्ट्रवाद की सामाजिक भित्ति खड़ी हुई। एक तरफ़ तो श्वेत नेतृत्व वाले अमेरिका से अलगाव की भावना के कारण इसका विकास हुआ, और दूसरी तरफ़ कालों के बीच अमेरिकी मुख्यधारा से एकीकरण की चर्चा भी होती रही। यह चर्चा काले अमेरिकनों की गोलबंदी में वृद्धि के दौर में ज़्यादा होती थी— मसलन, गृहयुद्ध के बाद के दौर में या नागरिक अधिकार आंदोलन के जोर पकड़ने के दौरान। इसके



मार्टिन रॉबिंसन डिलेनी (1812-1985)

विपरीत काले राष्ट्रवाद में उस समय बढ़ोतरी हुई, जब काले लोगों के बीच असंतोष और निराशा फैली। मसलन, 1920 और 1930 के दशक में ऐसा हुआ। इसी तरह, 1960 के दशक के आखिरी वर्षों और 1970 के दशक शुरुआती वर्षों में 'ब्लैक पावर' के दौर में ऐसा हुआ।

काले राष्ट्रवाद में दो पहलू शामिल हैं : नस्लवाद विरोधी एकजुटता और राष्ट्रवाद के पारम्परिक पहलू। जहाँ यह नस्ली प्रभुत्व और बहिर्वेशन के खिलाफ काले लोगों के सामूहिक प्रतिरोध का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ यह अमेरिकी या यूरोपीय राष्ट्रवाद से अलग है। लेकिन एक भिन्न धरातल पर यह प्रचलित राष्ट्रवाद का ही एक रूप है। इसमें अमेरिका के राष्ट्रीय समुदाय से काले लोगों के बहिर्वेशन का विरोध राष्ट्रवादी शब्दावली और प्रतीकों का इस्तेमाल करके ही किया गया है। इस तरह देखा जाए तो श्वेत नस्लवाद की प्रतिक्रिया के रूप में काले राष्ट्रवाद को नस्ली रूप से बहिर्वेशित लोगों के राष्ट्रवाद के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

दूसरी तरफ यह भी सच है कि अफ्रो-अमेरिकियों ने संयुक्त-राज्य अमेरिका में अपनी स्थिति की अलग-अलग तरह से व्याख्या की है। काले राष्ट्रवाद के अलग-अलग विचारों की मुख्य विशेषताओं को इस तरीके से रेखांकित किया जा सकता है : पहला, ऐतिहासिक अनुभव के आधार

पर गोरे लोगों, उनके कामों और संस्थाओं पर अविश्वास। दूसरा, गोरे लोगों का प्रभुत्व झेल रहे काले लोगों के नज़रिये से राजनीति का मूल्यांकन। तीसरा, 'राष्ट्र के भीतर राष्ट्र' के रूप में काले समुदाय की कल्पना। चौथा, एक सामान्य अफ्रीकी बुनियाद और दासता का संदर्भ। पाँचवाँ, काले लोगों की संस्कृति पर सकारात्मक रूप से जोर देना और नस्ली पृथकता के संदर्भ में इसका विकास करना। छठा, नस्लवाद विरोधी और राष्ट्रवादी एकजुटता बनाने का प्रयास करना। सात, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता पर जोर देना, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि इसमें भू-क्षेत्रीय आजादी भी शामिल हो।

कालों के संगठनों के बीच काफी मतभेद हैं। संयुक्त राज्य में कालों की स्थिति के बारे में वे किसी सामान्य व्याख्या पर एकमत नहीं हैं और न ही राजनीतिक कार्यवाही के तरीके के बारे में कोई सहमति है। इसके समर्थक कभी वामपंथी तो कभी दक्षिणपंथी राजनीतिक कार्यक्रम अपनाते रहे हैं। उन्होंने क्रांतिकारी या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और भू-क्षेत्रीय पृथकता पर या हल्के सामुदायिक नियंत्रण के परस्पर विरोधी विकल्पों पर जोर दिया है। बीसवीं सदी में राष्ट्रवाद के धार्मिक, राष्ट्रवाद और क्रांतिकारी (वामपंथी) रूप प्रचलित रहे हैं। लेकिन काले राष्ट्रवाद के तहत इनके बीच अंतर्वस्तु और रणनीति के आधार पर अंतर किया जाता रहा है।

जहाँ तक अंतर्वस्तु का सवाल है— इस राष्ट्रवाद के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और धार्मिक पहलू अलग-अलग हैं। काले राष्ट्रवाद के आर्थिक रूप में काले लोगों के आर्थिक विकास पर जोर है। राजनीतिक रूप में सभी अफ्रो-अमेरिकियों एक सशक्त राजनीतिक संगठन बनाने पर जोर दिया जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है कि साठ के दशक में 'ब्लैक पावर' का उभार। सबसे पहले यह बात स्टुडेंट नॉन वायलेंट कोआर्डिनेटिंग कमेटी (एसएनसीसी) ने की थी। इस तरह का राजनीतिक राष्ट्रवाद सिर्फ कालों की पार्टियों के गठन के रूप में भी सामने आ सकता है। क्रांतिकारी राष्ट्रवादी ब्लैक पैंथर पार्टी इसी तरह का एक राजनीतिक दल है। कई बार यह प्रवृत्ति चुनावों में विभिन्न पार्टियों के काले उम्मीदवारों को जिताने की रणनीति के रूप में भी सामने आती है। सांस्कृतिक काला राष्ट्रवाद काले लोगों की संस्कृति की दीर्घकालिकता, स्वायत्तता और मूल्यों पर जोर देता है। खास तौर पर इसका बल काले अमेरिकियों के अफ्रीकी मूल और विरासत पर है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक अभिव्यक्ति शिक्षात्मक राष्ट्रवाद के तौर पर भी है। इसमें काले बच्चों को बेहतर शिक्षा दिलाने और उनसे जुड़ी शैक्षिक संस्थाओं में सुधार के कार्यक्रम लिए जाते हैं। इसी तरह, काले राष्ट्रवाद का एक पहलू धार्मिक राष्ट्रवाद से भी जुड़ा हुआ है। यह धार्मिक संस्थाओं द्वारा अफ्रो-अमेरिकियों के दमन की आलोचना करता है। इसमें यह माना

जाता है कि गोरों ने काले लोगों के साथ भेदभाव करके ईश्वर के नियमों का उल्लंघन किया है। इसमें राजनीतिक कार्रवाई के बजाय ईश्वर के हस्तक्षेप को मुक्ति का रास्ता माना जाता है।

रणनीति के संदर्भ में काले राष्ट्रवाद के मुख्य लक्ष्य इस प्रकार हैं : अफ्रीका में वापसी, उत्तरी अमेरिका में भू-क्षेत्रीय अलगाववाद, अमेरिका के भीतर ही आत्म-निर्णय, क्रांतिकारी राष्ट्रवाद और अफ्रीकावाद। लेकिन दरअसल अलग-अलग समूहों ने इन रणनीतियों के अलग-अलग संयोजन को अपनाया है। 'अफ्रीका वापस लौटो' की रणनीति उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की शुरुआत में काफ़ी लोकप्रिय थी। पर इसे व्यावहारिक रूप से बहुत ज़्यादा लागू नहीं किया गया, बल्कि काले लोगों के समूहों ने इसका उपयोग अपनी अलग स्थिति को बताने के लिए किया। इसी तरह, कई दफ़ा एक स्वतंत्र काले राज्य की स्थापना का लक्ष्य भी रखा गया। बहुत से काले समूहों ने अलग राज्य के बजाय अमेरिका के भीतर ही काले लोगों के लिए स्वायत्तशासी व्यवस्था स्थापित करने पर जोर दिया, जिसमें उन्हें सामुदायिक संसाधनों पर ज़्यादा अधिकार मिल सके। कई लेखकों ने इसे 'जातीय बहुलवाद के काले संस्करण' की संज्ञा दी। इसी तरह, काले लोगों के एक समूह ने क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की तरफ़दारी की। इन्होंने जोर दिया कि काले लोगों की बुरी स्थिति का कारण वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था है और इसे पूरी तरह ख़त्म करके ही इनके लिए बेहतर समाज की स्थापना की जा सकती है। अपने पूँजीवाद विरोधी नज़रिये के कारण इन्होंने रैडिकल वामपंथियों और दूसरे जातीय/राष्ट्रीय समूहों से भी सहयोग किया। इस तरह के क्रांतिकारी राष्ट्रवादी संगठनों में सबसे महत्वपूर्ण ब्लैक पैंथर पार्टी थी। इसकी स्थापना ऑकलैण्ड में पी. न्यूअन और बॉबी सील ने की थी। इसने पुलिस की क्रूरता और श्वेत नस्लवाद से बचने के लिए काले लोगों से हथियार उठाने का आह्वान किया था। आखिर में एक रणनीति के रूप में कुछ समूहों द्वारा अखिल-अफ्रीकावाद की भी स्थापना की गयी। मूल रूप से इसका विकास कैरिबियाई इलाक़े में हुआ। इसके तहत दलील दी गयी कि अफ्रीका या पश्चिम में रहने वाले काले लोगों की स्थिति में केवल तभी सुधार हो सकता है, जब वे परस्पर सहयोग करें। इसे एक तरह से 'काले अंतर्राष्ट्रीयतावाद' के रूप में भी देखा गया।

बहरहाल, बहुत से विचारकों और एक्टिविस्टों ने काले राष्ट्रवाद की तीखी आलोचना भी की है। इनमें से अधिकांश आलोचनाएँ हर तरह के राष्ट्रवाद पर लागू होती हैं। पहला, काले राष्ट्रवाद की आलोचना करते हुए कहा गया है कि इतिहास और संस्कृति के बारे में इसका विचार दकियानुसी है और अपना मतलब निकालने के लिए यह परम्परों की मनमाफ़िक व्याख्या करता है। काले लोगों से जुड़े हर पहलू की 'महानता' का बखान किया जाता है और ग़ोरे लोगों को

नस्ली और अत्याचारी के रूप में पेश किया जाता है। आलोचकों ने राजनीतिक संदर्भ में भी काले राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण में कई समस्याएँ देखी हैं। दूसरा, आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि कई अफ्रीकी मुक्ति आंदोलनों का उत्तर-औपनिवेशिक अनुभव ख़राब रहा है। इन देशों में आंदोलन के जिन नेताओं का सत्ता मिली, उन्होंने जल्द ही पारम्परिक सत्ता संबंधों को ही स्थापित कर दिया। कई देशों में तो तानाशाही क्रायम हो गयी। आलोचक पूछते हैं कि क्या यह राष्ट्रवादी विचारधारा के गहरे विरोधाभास का ही प्रमाण नहीं है? तीसरा, काले राष्ट्रवाद की कमी यह भी रही है कि यह समाज की जटिलताओं और सत्ता-संबंधों को सिर्फ़ राष्ट्रवाद के मूल्य तक सीमित कर देता है। इसमें राष्ट्र से अलग व्यक्ति की कोई पहचान नहीं होती है। असल में, कई काले राष्ट्रवादियों ने 'काले पुरुषत्व' और पारम्परिक परिवार के विचार को ही बढ़ावा दिया है। चौथा, अमूमन यह राष्ट्रवाद काले लोगों के भीतर मौजूद वर्ग विभेद की उपेक्षा करता है। पाँचवाँ, काले राष्ट्रवाद में यहूदी-विरोध के पहलू भी हैं।

काले राष्ट्रवाद की राजनीतिक सफलताएँ एक तरह से सीमित ही रही हैं। उसने अमेरिका की राजनीति पर छाये हुए दो दलों, रिपब्लिकन पार्टी और डेमोक्रेटिक पार्टी के वर्चस्व को कमजोर नहीं कर पाया है। यहाँ तक कि काले राष्ट्रवाद की वकालत करने वाले समूह दूर-दूर तक इन पार्टियों को चुनौती देने की स्थिति में नहीं हैं। लेकिन उसने काले लोगों को अपने अधिकारों के बारे में जागरूक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका ज़रूर निभायी है। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि 2009 में बराक ओबामा के अमेरिका के राष्ट्रपति बनने में काले राष्ट्रवाद के कारण आयी राजनीतिक जागरूकता की भी भूमिका रही है। काले राष्ट्रवाद के समर्थक समूहों और इनके आंदोलनों के कारण मुख्यधारा के अमेरिकी समाज में भी नस्ली भेदभाव के मुद्दे पर काफ़ी गहराई से विचार किया जाने लगा। साथ में यह भी मानना पड़ेगा कि काले राष्ट्रवाद ने किसी व्यापक काले अंतर्राष्ट्रीयतावाद की स्थापना नहीं की है। हाँ, उसने कुछ हद तक दुनिया के काले लोगों में भावनात्मक एकता लाने में सफलता ज़रूर हासिल की है।

देखें : नस्लवाद, अमेरिकी क्रांति, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद : सांस्कृतिक या राजनीतिक।

संदर्भ

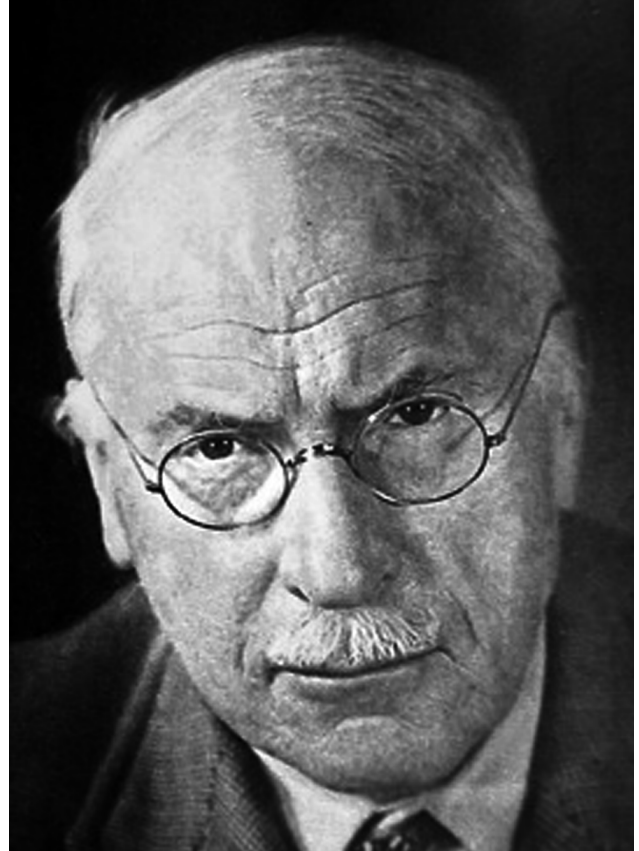
1. जे. एच. ब्रेसी और अन्य (सम्पा.) (1970), *ब्लैक नैशनलिज़म इन अमेरिका*. बॉक्स-मेरिल, न्यूयॉर्क.
2. डी. ई. रॉबिंसन (2001), *ब्लैक नैशनलिज़म इन अमेरिकन पॉलिटिक्स ऐंड थॉट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. एस. स्टूके, (सम्पा.) (1972), *द आइडियोलॉजिकल ऑरिजिन्स ऑफ़ ब्लैक नैशनलिज़म*. बिकॉन प्रेस, बोस्टन.

कार्ल गुस्ताव युंग

(Karl Gustav Jung)

स्विस मनोशास्त्री और चिकित्सक कार्ल गुस्ताव युंग (1875-1961) परिपक्व व्यक्ति के मन में झाँक कर उसके जीवन के संकटों और जद्दोजहद के रहस्योद्घाटन में माहिर थे। मनोवैज्ञानिकों की दुनिया में युंग और फ्रायड की मित्रता और मतभेदों की कहानी भी दर्ज है। मनोचिकित्सा करते समय फ्रायड का ज़ोर मरीज़ के जीवन का बिल्कुल शुरुआती इतिहास जानने पर था, पर युंग का कहना था मनोरोग का पता लगाने के लिए रोगी के तत्कालीन वर्तमान का विश्लेषण किया जाना चाहिए। वे मानते थे कि मनोरोग मनुष्य के मानस की गहराइयों में घटित होने वाली अलग-थलग क्रिस्म की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि वह दूसरे लोगों के साथ अन्योन्यक्रिया के दौरान पनपता है। ज़्यादा सम्भावना यही होती है कि परिवार के सदस्यों, खास तौर से माता-पिता, के अचेत प्रभाव के कारण मनोरोग का जन्म हो। इसीलिए युंग ने मातृ-मनोग्रंथि की फ्रायड द्वारा की गयी व्याख्या में संशोधन पेश किया। वे फ्रायड की भाँति इस मनोग्रंथि को बच्चे द्वारा माँ के साथ सम्भोग करने की इच्छा की तरह व्याख्यायित करने के लिए तैयार नहीं हुए। उनकी मान्यता थी कि चूँकि माँ बच्चे के लिए सुरक्षा और राहत का सबसे बड़ा स्रोत होती है, इसलिए मातृ-मनोग्रंथि के प्रभाव में बच्चा उस पर अपना एकांत अधिकार चाहता है। युंग ने व्यक्तित्व की दो क्रिस्मों का उद्घाटन किया जिन्हें आज हम अंतर्मुखी और बहिर्मुखी के नाम से जानते हैं। मानस के लैंगिक विश्लेषण के जरिये यह भी दिखाया कि मनुष्य प्रेम क्यों करता है। दरअसल, युंग द्वारा दिये गये प्रेम के मनोवैश्लेषिक सिद्धांत ने मानव जीवन के इस आधारभूत मनोभाव से जुड़ी प्रक्रियाओं को आलोकित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

कार्ल युंग का जन्म 26 जुलाई, 1875 को केसविल, स्वित्ज़रलैण्ड में हुआ था। युनिवर्सिटी ऑफ़ बासिल में पढ़ते हुए 1902 में उन्होंने चिकित्साशास्त्री की डिग्री हासिल की। कुछ वर्ष तक एक मनश्चिकित्सालय के निदेशक और वरिष्ठ चिकित्सक रहने के बाद उन्होंने कई वर्ष तक मनोविज्ञान के प्रवक्ता और फिर दुनिया के विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रोफ़ेसर की भूमिका निभायी। युंग का ज़िक्र उनके भारतीय संदर्भ के बिना पूरा नहीं हो सकता। 1936 से 38 के बीच में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी अध्यापन किया। कुछ दिनों के लिए वे तिब्बती बौद्ध दर्शन की तरफ़ भी आकर्षित हुए। जीवन के अंतिम वर्ष उन्होंने जूरिख के पास झील के किनारे बने अपने घर में क्लिनिकल प्रैक्टिस



कार्ल गुस्ताव युंग (1875-1961)

करते हुए गुज़ारे। इस घर का नियोजन उन्होंने अपने मनोवैज्ञानिक विकास की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के तौर पर किया था।

1906 में युंग ने अपनी रचना *द साइकोलॉजी ऑफ़ डिमेंशिया प्रीकोक्स* प्रकाशित की और उसे फ्रायड को भी भेजा। इस रचना में उन्होंने जिस मनोरोग का संधान किया था उसे आगे चल कर खण्डित मनस्कता या स्किज़ोफ्रेनिया के नाम से जाना गया। अपने इस अध्ययन में उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि खण्डित मनस्कता के तहत होने वाले मतिभ्रमों की प्रकृति निजी धार्मिक आस्थाओं के कारण होने वाले मतिभ्रमों जैसी होती है। फ्रायड उनकी दावेदारियों से प्रभावित हुए और दोनों विद्वानों के बीच मित्रता व परस्पर सहयोग का एक लम्बा दौर चला। लेकिन 1913 में यह संबंध भंग हो गया और 1917 में *द साइकोलॉजी ऑफ़ द अनकांशस* के प्रकाशन के साथ ही यह विच्छिन्नता सम्पूर्ण हो गयी। इसी दौर में युंग मनोविश्लेषकों की अंतर्राष्ट्रीय एसोसिएशन के अध्यक्ष रहे और इसी दौरान उन्होंने मिथकों, परी-कथाओं और धर्मों के बारे में गहरा अनुसंधान किया। आदिवासियों की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए उन्होंने उत्तर-अमेरिका और केन्या में जम कर फ़ील्ड-वर्क किया। युंग ने कीमियागिरी को भी खँगाला और उसके दायरे में आने वाले

प्रतीकों और मिथकों की जाँच की। वे मानते थे कि इस सब के जरिये प्रकृति को समझने की कोशिश की जाती है।

1912 में युंग ने न्यूयॉर्क की फ़र्डहैम युनिवर्सिटी में कई व्याख्यान दिये जिनसे पता चला कि वे फ़्रॉयड से किन-किन बातों में असहमत हैं। पहली बात तो उन्होंने यह कही कि वे सेक्शुअल क्रिस्म के मानसिक आघात की फ़्रॉयड द्वारा प्रवर्तित थियरी को नहीं मानते। केवल अतीत की एक घटना के जरिये इस परिघटना को नहीं समझा जा सकता। इसकी पूरी समझ तभी बन सकती है जब रोगी की आनुवंशिक स्थिति और पर्यावरणीय पहलुओं को उनकी पूरी जटिलता में जाना जाए। दूसरे, युंग ने फ़्रॉयड द्वारा लिबिडो या कामतत्त्व को केवल यौन कामना के संदर्भ में देखने की भी आलोचना की। उनका कहना था कि फ़्रॉयड के बहुत पहले से लिबिडो को सभी क्रिस्म की तीव्र कामनाओं की अभिव्यक्ति के तौर पर लिया जाता था। युंग चाहते थे कि लिबिडो को मानस की सभी ऊर्जस्वित प्रक्रियाओं के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए। उनका तीसरा मतभेद बच्चों की सेक्शुअलिटी को लेकर था। फ़्रॉयड ने बच्चे के विकास में सेक्शुअल प्रक्रिया को तरजीह दी थी, जबकि युंग का कहना था कि बच्चे के लिए उसका पौष्टिक आहार और उसकी दैहिक वृद्धि अधिक महत्वपूर्ण है। फ़्रॉयड कहते थे कि वयःसंधि से पहले व्यक्ति की सेक्शुअलिटी दमित पड़ी रहती है, जबकि युंग का कहना था कि जिसे फ़्रॉयड लेटेंसी की अवधि कहते हैं उसी में सेक्शुअलिटी की शुरुआत होती है।

युंग ने फ़्रॉयड द्वारा व्याख्यायित बाल-सेक्शुअलिटी को ही खारिज नहीं किया, बल्कि उन्होंने बचपन में होने वाले स्मृति-लोप की थियरी भी अस्वीकार कर दी। फ़्रॉयड का खयाल था कि रोगी बचपन में अपनी सेक्शुअलिटी का दमन करता है इसलिए उसे स्मृति-लोप का शिकार होना पड़ता है। जबकि युंग का दावा था कि बच्चे का स्मृति-लोप महज़ उसकी अपरिपक्वता की निशानी है। उसका रिश्ता स्नायु-रोग के कारण याददाश्त चले जाने से नहीं जोड़ना चाहिए। व्यक्ति बचपन की घटनाओं को याद करने में इसलिए असमर्थ होता है कि उस समय उसके पास घटनाओं का वैसा सूत्रीकरण करने की क्षमता नहीं होती जो बाद में स्मृति के जरिये याद करने के लिए ज़रूरी होता है। युंग का कहना था कि हम केवल उन्हीं घटनाओं को याद कर पाते हैं जिन्हें हम घटते समय खास तरह से सूत्रबद्ध कर लेते हैं। अगर हम किसी अनुभव का विन्यास अपने मस्तिष्क में नहीं कर पाते, तो बाद में हमें उसकी याद भी नहीं रहती। वह घटना दिमाग के भीतर एक अलग-थलग क्रिस्म के संवेग या बिम्ब के रूप में रह जाती है।

फ़्रॉयड और युंग की बहस यहीं खत्म नहीं हुई।

फ़्रॉयड का कहना था कि स्नायु-रोग अहं और सेक्शुलिटी से जुड़ी वृत्तियों के टकराव का नतीजा होते हैं। युंग ने दावा किया कि जब व्यक्ति अपने भावनाप्रधान विकास का दैहिक और अन्य क्रमगत विकास के साथ सामंजस्य नहीं बैठा पाता तो परिणाम स्नायु-रोग में निकलता है। अगर किसी का भावनाप्रधान विकास उम्र के किसी चरण में रुक गया है और वह अपने शारीरिक और अन्य विकास की ज़रूरतें पूरी नहीं कर पा रहा है तो उसके व्यक्तित्व की समरसता भंग हो जाएगी और उसे स्नायु-रोग का सामना करना पड़ेगा। ऐसे में व्यक्ति की मनो-ऊर्जा पर बचकानी स्वैर-कल्पनाएँ हावी हो जाती हैं जिनका वयस्क जीवन की आवश्यकताओं से कोई नाता नहीं होता। युंग ने कहा कि ऐसे रोगी अपने उस अतीत में रहते हैं जिसमें उनके माता-पिता ने सर्वाधिक निर्णायक भूमिका निभायी होती है। युंग ने इस अवस्थिति को 'इंट्रोवर्जन' करार दिया।

युंग की व्याख्या के अनुसार इंट्रोवर्टिड व्यक्ति यानी अंतर्मुखी शिखिस्यत वह होती है जो अपने आंतरिक मनोभावों के आधार पर संचालित होती है। बहिर्मुखी शिखिस्यत वह होती है जो अपने बाह्य जगत के प्रभावों से संचालित होती है। आगे चलकर युंग ने व्यक्तित्व के प्रकारों का अपना सिद्धांत और विकसित किया। उन्होंने कहा कि इनसान की शिखिस्यत चिंतन करने, अनुभूति करने, संवेदित होने और अंतर्बोध (जिसे छठी इंद्रिय भी कहा जाता है) से बनती-चलती है। इन गतिविधियों को युगों के तौर पर भी जाना जाता है : सोचना-महसूसना और संवेदना-अंतर्ज्ञान। इन जोड़ों में से एक घटक जब व्यक्ति पर हावी हो कर उसके अहं की चालक-शक्ति बन जाता है, तो उससे अपने आपको पूरी तरह हासिल करने की प्रक्रिया बाधित होती है। अपने शिक्षक पिएर जेने की तरह युंग भी मानते थे कि स्नायु रोग एक तरह का आत्म-विभाजन है। व्यक्ति का नैतिक और अनैतिक पक्ष उसके अवचेतन में मौजूद रहता है जिसके कारण अपने आप मनोग्रंथियों की रचना होती रहती है।

कार्ल युंग द्वारा किये गये मानस के लैंगिक विश्लेषण से प्रेम की परिघटना पर काफ़ी रोशनी पड़ी। उन्होंने रोमानी प्रेम को अपने अनुसंधान का विषय बनाया। उनका कहना था कि रोमानी प्रेम तर्कातीत होता है और किसी व्यक्ति के प्रति अचानक पैदा हुए अचेत आकर्षण से उपजता है। युंग के मुताबिक इनसान की शिखिस्यत में एक अचेत हिस्सा होता है और एक जागरूक। आम तौर पर पुरुष के भीतर अचेत हिस्सा स्त्री-लिंग की और स्त्री के भीतर पुरुष-लिंग की नुमाइंदगी करता है। युंग की इस थियरी के मुताबिक व्यक्ति जब किसी के प्रति अचानक आकर्षण महसूस करता है तो वह अपनी ही चेतना के उस हिस्से से प्रेम कर रहा होता है जिसके बारे में उसे पता नहीं है और जो उसके भीतर मौजूद

भिन्न जेंडर का प्रतिनिधित्व कर रहा है। युंग का यह भी कहना था कि व्यक्ति के इस अवचेतन की चालक-शक्ति अक्सर उसे जन्म देने वालों में से विपरीत लिंग से मिलती है। यानी पुरुष का यह अवचेतन उसकी माँ से प्रभावित होगा, और स्त्री का अवचेतन उसके पिता से। इसीलिए व्यक्ति अक्सर अपनी स्वैरकल्पना में अपने प्रेमी/प्रेमिका की वही छवि पालता है जो उसके अवचेतन में मौजूद होती है। हालाँकि युंग की यह थियरी सीधे-सीधे प्रमाणित नहीं की जा सकती, पर कई अनौपचारिक प्रेक्षणों में देखा गया है कि लोग ऐसे व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होते हैं जो उनके माँ-बाप से मिलते-जुलते हों।

देखें : एरिक फ्रॉम, जाक लकाँ, मनोविज्ञान-1 और 2, मनोविश्लेषण, मनोविश्लेषण और नारीवाद, जिंगमण्ड फ्रॉयड-1 और 2.

संदर्भ

1. जोलांदे जैकोबी (1962), *द साइकोलॉजी ऑफ़ सी.जी. युंग : एन इंट्रोडक्शन*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, कनेक्टिकट.
2. ई.ए. बैनेट (1967), *व्हाट युंग रियली सेड*, शोकेन, न्यूयॉर्क.
3. एंथनी स्टोर (1973), *सी.जी. युंग*, कोलिंस, लंदन और वाइकिंग प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. पीटर होमंस (1979), *युंग इन कांटेक्ट्स : मॉडर्निटी ऐंड मेकिंग ऑफ़ साइकोलॉजी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

कार्ल मेंगर

(Carl Menger)

अर्थशास्त्र के ऑस्ट्रियायी स्कूल के संस्थापक कार्ल मेंगर (1840-1921) *हासमान सीमांत उपयोगिता* के जनक माने जाते हैं। उन्होंने उपयोगिता को वस्तुओं के मूल्य के आकलन के प्रमुख स्रोत की तरह स्थापित किया। मेंगर एक अनूठे अर्थशास्त्री थे जिन्होंने आर्थिक विज्ञान की मुख्य धारा में तो उल्लेखनीय योगदान किया ही, धारा के उलट सोचते हुए स्थापित सैद्धांतिक और पद्धतिमूलक मान्यताओं को चुनौती भी दी। इस प्रक्रिया में वे छात्रों, शोधकर्ताओं और विद्वानों के एक अच्छे खासे तबके को अपना अनुयायी बनाने में कामयाब रहे। अर्थशास्त्र को उसके क्लासिकल मक़ाम से आगे बढ़ा कर नयी मंज़िलों तक ले जाने में मेंगर की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। पूरे अनुशासन को प्रभावित करने वाले ऑस्ट्रियायी अर्थशास्त्र के दो विशिष्ट स्तम्भ उन्हीं के खड़े किये हुए हैं : मूल्य के आत्मपरक सिद्धांत की स्थापना, और यह दलील कि आर्थिक ज्ञान व्यक्ति

आधारित विश्लेषण पद्धति के ज़रिये वास्तविक अर्थव्यवस्था के कामकाज की जानकारी प्राप्त होने से पहले ही हासिल किया जा सकता है। अपनी असाधारण विद्वत्तापूर्ण उपलब्धियों के लिए मेंगर ने राजनीतिक कैरियर तक को प्राथमिकता नहीं दी। 1900 में उन्हें ऑस्ट्रियायी संसद के उच्च सदन का सदस्य बनाया गया, लेकिन संसदीय बहसों में समय लगाने के बजाय उन्होंने अर्थशास्त्र को दी जाने वाली प्राथमिकता कभी नहीं बदली।

कार्ल मेंगर का जन्म गैलीसिया यानी ऑस्ट्रिया के उस हिस्से में हुआ था जो आजकल पोलैण्ड में है। उनके पिता वकील थे और मेंगर ने भी वियना विश्वविद्यालय में क़ानून और राजनीतिशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। कारकोव विश्वविद्यालय से उन्होंने क़ानून में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। अपनी रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ़ इकॉनॉमिक्स* (1871) लिखते समय मेंगर को आर्थिक विज्ञान के महारथी के रूप में काफ़ी ख्याति मिली। उन्होंने ऑस्ट्रिया के युवराज प्रिंस रुडोल्फ़ को भी पढ़ाया और उनके साथ पूरे युरोप का भ्रमण किया। वियना में अध्यापन करने के बाद वे अपना पूरा समय अकादमिक काम को देने लगे। 1900 में उन्हें संसद के ऊपरी सदन का सदस्य नियुक्त किया गया। पर उनकी तबीयत संसदीय बहस-मुबाहिसे में नहीं लगी और उन्होंने अपना ज़्यादातर समय अर्थशास्त्रीय प्रश्नों पर विमर्श करने, अध्यापन करने, लेखन करने और अपने बौद्धिक विरोधियों से टकराने में बिताया।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों के दौरान कांतिनेंटल युरोप में क्लासिकल अर्थशास्त्र को नीची निगाहों से देखा जाता था। अमूर्त सिद्धांतीकरण की तरफ़ रुझान रखने वाले ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का तबक़ा तो क्लासिकल अर्थशास्त्र से ख़ास तौर पर असंतुष्ट था। ऐसे समय में कार्ल मेंगर ने अर्थशास्त्र को अमूर्तन से निकाल कर असलियत की ज़मीन से जोड़ने की भूमिका निभायी। उनका प्रस्थान बिंदु यह मान्यता थी कि वस्तुओं में एक मूल्य निहित होता है क्योंकि वे हमारी ज़रूरतों को पूरा करती हैं। इसलिए उनका मूल्य वस्तुगत पहलुओं (जैसे, उत्पादन की लागत या सप्लाई) के आधार पर नहीं, बल्कि आत्मगत पहलुओं (जैसे, उपयोगिता या माँग) के आधार पर तय किया जाना चाहिए। चूँकि मेंगर की निगाह में मूल्य का स्रोत मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति से होने वाला संतोष था, इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वस्तुओं की माँग भी इसी से निकलती है और यही आर्थिक विनिमय की चालक शक्ति है। मेंगर यह भी मानते थे कि वस्तुएँ इतनी नहीं हैं कि मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सकें, इसलिए लोग मिल सकने वाली सभी वैकल्पिक वस्तुओं के बीच से बुद्धिसंगत चुनाव करते हैं।

अपना यह तर्क मेंगर ने एक तालिका के ज़रिये प्रदर्शित किया। तालिका का प्रत्येक कॉलम एक अलग वस्तु की नुमाइंदगी करने वाला था। हर कॉलम के शीर्ष पर रोमन



कार्ल मेंगर (1840-1921)

संख्याएँ थीं जिनके नीचे लिखी गयी साधारण संख्याएँ बता रही थीं कि उन वस्तुओं के उपभोग का व्यक्तियों के लिए संतोष के लिहाज़ से क्या महत्त्व है। मेंगर ने यह भी देखा कि व्यक्ति जैसे-जैसे किसी वस्तु की ज़्यादा से ज़्यादा मात्रा ख़रीदता जाता है, उससे प्राप्त होने वाले संतोष की मात्रा घटती जाती है। इसे उन्होंने *हासमान सीमांत उपयोगिता* का नाम दिया। इसी लिहाज़ से मेंगर की तालिका दिखा रही थी कि किसी वस्तु के उपभोग के शुरुआती दौर में संतोष की मात्रा बहुत अधिक होती है जो इसके बाद होने वाली ख़रीदों में गिरती चली जाती है। तालिका के पहले कॉलम में जीवन संरक्षण के लिए ज़रूरी वस्तुएँ थीं, दूसरे में स्वास्थ्य संरक्षण, तीसरे में व्यक्तिगत कल्याण, चौथे में मनोरंजन आदि से संबंधित वस्तुएँ रखी गयी थीं।

मेंगर के मूल्य सिद्धांत का नतीजा यह निकला कि आत्मगत संतोष देने वाली सभी गतिविधियाँ उत्पादक गतिविधियाँ समझी जाने लगीं। ब्रिटिश क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विपरीत मेंगर के आग्रह के कारण व्यापार भी एक उत्पादक गतिविधि समझा जाने लगा। तर्क दिया गया कि उसके ज़रिये लोग जो वस्तुएँ हासिल करते हैं वे उनके द्वारा त्यागी गयी वस्तुओं के मुकाबिले उन्हें अधिक उपयोगिता प्रदान करने वाली होती हैं। इसी तरह फ्रांस्वाँ केस्ने के प्रतिपादन के विपरीत मेंगर के सूत्रीकरण के कारण कृषि और कारखाना उत्पादन के दोनों क्षेत्र उत्पादक समझे जाने लगे। मेंगर ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा विकसित श्रम के मूल्य सिद्धांत को भी ग़लत साबित किया। उन्होंने कहा कि किसी वस्तु का मूल्य न तो उसके उत्पादन में लगे श्रम का

पर्याय हो सकता है, न ही उसमें लगी अन्य वस्तुओं या उसके पुनरुत्पादन में खर्च होने वाली उनकी मात्रा के आधार पर उसके मूल्य का आकलन हो सकता है। उसके मूल्य का आकलन तो उस उपयोगिता के महत्त्व का आकलन करके ही हो सकता है जो उस वस्तु का उपभोग करके कोई व्यक्ति सचेत रूप से प्राप्त करता है। चूँकि यह सिद्धांत मूल्य का स्रोत व्यक्ति में देख रहा था इसलिए मेंगर ने दावा किया कि आर्थिक विश्लेषण की शुरुआत व्यक्ति का अध्ययन करके की जानी चाहिए। उनके इस आग्रह को *पद्धतिमूलक व्यक्तिवाद* (मैथडॉलॉजिकल इन्डिविजुअलिज़म) का नाम दिया जाता है। मेंगर ने कहा कि भूमि, श्रम और पूँजी का मूल्य इस बात में निहित है कि उनसे व्यक्ति की आवश्यकताओं की अप्रत्यक्ष पूर्ति होती है। इनके माध्यम से वे वस्तुएँ पैदा होती हैं जिनकी लोग प्रत्यक्ष रूप से कामना करते हैं क्योंकि उनसे व्यक्तिगत उपयोगिता प्राप्त होती है।

1875 से 1884 के बीच मेंगर और जर्मन हिस्टोरिकल स्कूल के विद्वानों के बीच अर्थशास्त्र के पद्धतिमूलक प्रश्नों को लेकर बड़ी तल्ल बहस हुई। इस स्कूल के नेता गुस्ताव शमोलर पर मेंगर ने ख़ास तौर से निशाना साधा। विद्वानों के इस समुदाय की मान्यता थी कि आर्थिक नियमों को लम्बी अवधि में जमा किये गये ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से ही जाना जा सकता है। किसी अर्थव्यवस्था के बारे में जानना हो तो उसके ऐतिहासिक प्रदर्शन की जाँच करके पैटर्न पता लगाने चाहिए। हिस्टोरिकल स्कूल लोगों और बाज़ारों के लक्षणों के बारे में पूर्वधारणाएँ बना कर सिद्धांतों का सूत्रीकरण करने के ख़िलाफ़ था। वह चाहता था कि ऐतिहासिक तथ्यों और समय व युग के अंतरों का भी सिद्धांतीकरण की प्रक्रिया में ध्यान रखा जाए। इसके विपरीत मेंगर तथ्यों और आँकड़ों को जमा करने के बजाय आर्थिक परिघटना के अनिवार्य लक्षणों या आर्थिक चरों के बीच अनिवार्य संबंधों की खोज करने के ज़रिये सिद्धांत रचने के पक्ष में थे। उनकी मान्यता थी कि ऐतिहासिक या आनुभविक अर्थशास्त्र उपभोक्ता व्यवहार के बारे में पूर्वानुमान नहीं लगा सकता। इस बहस में मेंगर ने दावा किया कि आर्थिक ज्ञान व्यक्ति आधारित विश्लेषण पद्धति के ज़रिये वास्तविक अर्थव्यवस्था के कामकाज की जानकारी प्राप्त होने से पहले ही हासिल किया जा सकता है। यह बहस बहुत लम्बी खिंची और दोनों पक्षों की थकान के कारण अंततः समाप्त हो गयी। पर, अर्थशास्त्र की दुनिया ने मेंगर की पद्धति को ही अपनाया।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर,

जैव विविधता, ट्यूरीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो।

संदर्भ

1. मैक्स आल्टर (1990), *कार्ल मेंगर ऐंड द ओरिजिंस ऑफ़ ऑस्ट्रियन इकॉनॉमिक्स*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, कोलोराडो.
2. हेनरी-साइमन ब्लॉक (1940), 'कार्ल मेंगर : द फ़ाउंडर ऑफ़ द ऑस्ट्रियन स्कूल', *जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, खण्ड 48, अंक 3.
3. ब्रूस जे. क्लैडवेल (सम्पा.) (1990), *कार्ल मेंगर ऐंड हिज लीगेसी इन इकॉनॉमिक्स*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम ऐंड लंदन.
4. फ्रेड्रिख वॉन हायक (1934), 'कार्ल मेंगर', *इकॉनॉमिका*, 1.

— अभय कुमार दुबे

कार्ल रायमुंड पॉपर

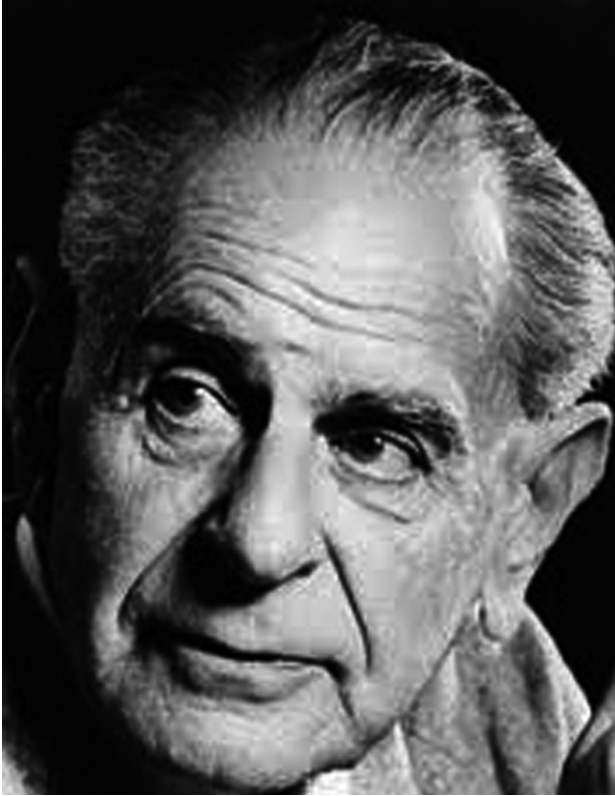
(Karl Raimund Popper)

बीसवीं सदी के प्रमुख विचारकों में से एक दार्शनिक कार्ल रायमुंड पॉपर (1902-1994) विज्ञान के संदर्भ में 'फ़ाल्सीफ़िकेशनज्म' और राजनीति के संदर्भ में सुधारवादी उदारतावाद के सूत्रीकरण के लिए जाने जाते हैं। पॉपर से पहले विज्ञान के दार्शनिक आम तौर पर यह दिखाने की कोशिश करते थे कि वैज्ञानिक सिद्धांतों की सत्यता किस प्रकार प्रमाणित की जा सकती है। लेकिन पॉपर ने 1934 में प्रकाशित अपनी रचना *द लॉजिक ऑफ़ साइंटिफ़िक डिस्कवरी* में वैज्ञानिक सिद्धांतों के मिथ्याकरण का सूत्र पेश करते हुए दावा किया कि विज्ञान अपनी परिकल्पनाओं और व्याख्याओं की सच्चाई प्रमाणित करने के जरिये नहीं बल्कि उनके ग़लत साबित होने के आधार पर आगे बढ़ता है। पॉपर ने 1945 में प्रकाशित अपनी दूसरी विख्यात रचना *द ओपन सोसाइटी ऐंड इट्स एनिमीज़* में प्लेटो से लेकर हीगेल और मार्क्स तक पश्चिमी चिंतन परम्परा के ख़िलाफ़ विद्रोह का

झंडा बुलंद किया। उन्होंने इन सभी विचारकों को बंद समाज का प्रवक्ता घोषित करते हुए उनके सिद्धांतों को जड़सूत्रों की श्रेणी में रखा। पॉपर ने मार्क्सवाद और फ़ॉयडियन मनोविश्लेषण को छद्म-विज्ञान करार दिया। वे किसी भी तरह की सामाजिक या आर्थिक इंजीनियरिंग के ख़िलाफ़ थे। उन्होंने 1957 में प्रकाशित अपनी रचना *पॉवर्टी ऑफ़ हिस्टोरिसिज़्म* में इतिहास के नियम खोज लेने का दावा करने वाली विचार-प्रणालियों के खोखलेपन का पर्दाफ़ाश किया।

कार्ल पॉपर का जन्म वियना के एक यहूदी परिवार में हुआ था। उनके पिता एक खुशहाल वकील थे। लेकिन पहले विश्व-युद्ध और उसके फलितार्थों के कारण उनके परिवार को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। सोलह साल की उम्र में पढ़ाई छोड़ कर उन्हें मजदूरी करनी पड़ी। उन्होंने बढईगीरी भी सीखी। युवावस्था में वे मार्क्सवाद से प्रभावित रहे, लेकिन कम्युनिस्ट आंदोलनकारियों द्वारा की जाने वाली हिंसा को देख कर इस विचारधारा से उनका मोह भंग हो गया। 1928 में उन्होंने वियना विश्वविद्यालय से पीएचडी की और फिर अध्यापन करने लगे। 1938 में हिटलर द्वारा ऑस्ट्रिया को ज़बरन जर्मनी में मिलाने के ठीक पहले यहूदी विरोधी राजनीति को भाँप कर वे अपनी पत्नी के साथ न्यूजीलैण्ड चले गये और केंटरबरी विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र पढ़ाने लगे। 1945 में वे ब्रिटिश नागरिक बने और लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में 1948 से 69 कर प्रोफ़ेसर रहे। 1965 में उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित किया गया। उन्होंने अपनी पहली रचना *द लॉजिक ऑफ़ साइंटिफ़िक डिस्कवरी* जर्मन भाषा में ही लिखी थी, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद उसके प्रकाशन के कई साल बाद छपा।

एक तरह से पॉपर अठ्ठारहवीं सदी में डेविड ह्यूम द्वारा डाली गयी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले चिंतक थे। ह्यूम ने आगमनात्मकता (इंडक्शन) की समस्या को रेखांकित किया था। कुछ विशिष्ट प्रेक्षणों को एक आम सिद्धांत की शकल देने की प्रक्रिया को आगमनात्मकता कहा जाता है। ह्यूम को इस प्रक्रिया की सत्यता पर संदेह था। इसी तर्ज पर पॉपर ने वस्तुनिष्ठता का दावा करने वाले विज्ञानों द्वारा अपने सिद्धांतों को प्रमाणित करने की क्षमता को मानने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि वैज्ञानिक सिद्धांत प्रयोगशालाओं में परीक्षणों के जरिये और बाह्य-विश्व में प्रेक्षणों के जरिये प्रमाणित ज़रूर किये जा सकते हैं, पर उन्हें हर तरह के देश-काल पर लागू होने वाले नियमों की तरह सही साबित नहीं किया जा सकता। पॉपर के अनुसार विज्ञान का काम किसी परिघटना की इस तरह व्याख्या करना है कि उससे आने वाले समय में होने वाली कुछ घटनाओं के बारे में न केवल भविष्यवाणी की जा सके, बल्कि उन घटनाओं का प्रेक्षण भी किया जा सके। इसके बाद यह देखा जाना



कार्ल रायमुंड पॉपर (1902-1994)

चाहिए कि वे घटनाएँ उसी तरीके से घटती हैं या नहीं। मसलन, गैलीलियो की परिकल्पना थी कि किसी वस्तु का भार उसके गिरने के वेग पर प्रभाव नहीं डालता। यह साबित करने के लिए गैलीलियो ने पीसा की मीनार से तोप के दो अलग-अलग वजन वाले गोले नीचे फेंके और दोनों एक साथ ही धरती पर गिरे। अगर इसी तरह के परीक्षण पर कोई सिद्धांत खरा उतरता है तो थोड़ी देर के लिए उसे सच्चा मान कर स्वीकार किया जा सकता है। अगर ऐसा नहीं होता तो सिद्धांत अपने आप खारिज हो जाता है, और उसकी जगह किसी बेहतर नये सिद्धांत को लाने की कोशिश की जाती है जिसे प्रमाणित किया जा सके। इस तरह सिद्धांत लगातार परीक्षा के दौर से गुजरते रहते हैं। प्रेक्षणों की संख्या जितनी बढ़ती जाएगी और उन्हें जितनी ज्यादा नफ़ासत और बारीकी से किया जाएगा, उतने ही ज्यादा सिद्धांत ग़लत साबित होते जाएंगे। यहाँ तक कि अत्यंत प्रमाणित समझे जाने वाले सिद्धांतों पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

अपने इस तर्क का इस्तेमाल पॉपर ने विज्ञान और छद्म-विज्ञान के बीच फ़र्क करने में किया। जो वैज्ञानिक सिद्धांत मिथ्या साबित नहीं किये जा सकते, उन्हें पॉपर ने छद्म करार दिया। उनका कहना था कि तथ्यगत रूप से परीक्षणीय कसौटियों पर खरा उतरने से इनकार करने वाला विज्ञान फ़र्जी होता है। ऐसा विज्ञान अपने ग़लत प्रमाणित हो जाने के बावजूद लगातार अपनी विफलता से इनकार करता रहता है।

पॉपर के अनुसार मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण ऐसे ही विज्ञान हैं। सच्चा वैज्ञानिक तो वह होता है जो अपने सिद्धांत के ग़लत साबित हो जाने पर उसे कूड़ेदान में फेंक दे। अपनी दो खण्डों की रचना *द ओपिन सोसाइटी* में पॉपर ने प्लेटो को एक प्रतिक्रियावादी और सर्वसत्तावादी चिंतक करार दिया, एक ऐसा चिंतक जिसने दार्शनिक अभिजन के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता दे कर समाज-परिवर्तन का रास्ता बंद कर दिया। हीगेल उनकी निगाह में एक 'खतरनाक' विचारक और सम्पूर्ण ज्ञान का दावा करने वाले हवाबाज़ के अलावा कुछ नहीं थे। मार्क्स की उन्होंने कुछ प्रशंसा भी की है। पॉपर का खयाल था कि मानवीय प्रकृति और किसी निश्चित सामाजिक परिस्थिति में सक्रिय लोगों की प्रेरक-शक्तियों के बीच फ़र्क करना मार्क्स की विशेष उपलब्धि थी। लेकिन इसी के साथ मार्क्स में भी सम्पूर्णतावादी और निर्धारणवादी प्रवृत्तियाँ थीं। उन्होंने व्याख्या और विश्लेषण को भविष्यवाणी के मातहत करते हुए पूँजीवाद के अपरिहार्य अंत की घोषणा कर दी थी।

द पॉवर्टी ऑफ़ हिस्टोरिसिज़म में पॉपर ने मार्क्स और अन्य ऐसे ही कई अन्य चिंतकों का विश्लेषण किया है। उनका कहना कि जिन बातों को इतिहास का नियम बता कर पेश किया जाता है, वे दरअसल महज़ एक ख़ास युग की प्रवृत्तियाँ होती हैं। मसलन, 'पूँजी के उत्तरोत्तर संकेंद्रण का नियम' ज्यादा से ज्यादा एक रुझान को व्यक्त करने वाला वक्तव्य है। किसी रुझान को भविष्य के पूर्वानुमान में बदलने की कोशिशें पॉपर के अनुसार दुर्बलताओं की शिकार होती हैं। इतिहास के नियमों में यक़ीन रखने वाला अपने ही सिद्धांतों की नाकामी के अंदेशों से जूझने के लिए अभिशप्त रहता है।

पॉपर को राजनीति और विज्ञान में इस तरह के सवाल उठाने पर गहरी आपत्तियाँ थीं : 'हम निर्भूल कैसे हो सकते हैं?' या 'हमें सर्वश्रेष्ठ शासक कैसे मिल सकते हैं?' पॉपर के अनुसार इन सवालों के बजाय हमें पूछना यह चाहिए : 'हम अपनी त्रुटियों का जल्दी से जल्दी पता लगा कर निवारण कैसे कर सकते हैं?' या 'हम बुरे शासकों के कामों से होने वाले नुकसानों को कम से कम कैसे कर सकते हैं?'

पॉपर मुख्यतः एक उदारतावादी चिंतक थे : व्यक्ति की स्वायत्तता को बचाने के लिए प्रतिबद्ध और क़ानून के समक्ष सबकी बराबरी के तरफ़दार। उनकी सिफ़ारिश थी कि सरकार को ज्यादा से ज्यादा लोगों का कल्याण करने के दूरगामी नज़रिये से आर्थिक-सामाजिक परियोजनाएँ चलाने के बजाय उनके कष्टों को न्यूनतम करने की कोशिश करनी चाहिए। चूँकि वे मानते थे कि मानव-प्रकृति के बारे में पहले से कुछ भी पक्का नहीं कहा जा सकता, इसलिए वे सफल नियोजन की धारणा के प्रति संशयग्रस्त रहते थे।

देखें : अफलातून, अरस्तू, आग्युस्त कॉम्ट, इमैनुएल कांट, ईसैया बर्लिन, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, निकोलो मैकियावेली, मार्सिलियस पाडुआ के, सुकरात, संत थॉमस एक्विना।

संदर्भ

1. बी. मैगी (1973), *पाँपर*, फ़्रोटाणा, लंदन.
2. जी. करी और ए. मुसग्रेव (सम्पा.) (1985), *पाँपर एंड द ह्यूमन साइंसेज़*, निजहाँफ़, द हेग.
3. पी.ए. शिल्प (सम्पा.) (1974), *द फिलॉसफ़ी ऑफ़ कार्ल पाँपर*, ओपिन कोर्ट, ल सेल, आईएल.
4. के.आर. पाँपर (1945), *द ओपिन सोसाइटी एंड इट्स एनेमीज़*, रॉटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1

(बेगानगी और दुनिया बदलने का सवाल)

(Karl Heinrich Marx-1)

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को सर्वाधिक और निर्णायक रूप से प्रभावित करने वाले कार्ल हाइनरिख मार्क्स (1818-1883) एक सम्पूर्ण बुद्धिजीवी थे। युरोपीय दार्शनिक परम्परा के विद्वान, अर्थशास्त्र की क्लासिकल परम्परा के अर्थशास्त्री, अथक राजनीतिक संगठक, समझौताहीन क्रांतिकारी और आधुनिक समाजवाद के शीर्ष सिद्धांतकार के तौर पर मार्क्स ने पूँजीवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए साम्यवादी समाज का यूटोपियायी स्वप्न रचा। अपना मकसद हासिल करने के लिए उन्होंने कम्युनिस्ट आंदोलन की नींव रखी और घोषित किया कि दार्शनिकों ने तरह-तरह से दुनिया की व्याख्या तो बहुत कर ली, असली सवाल तो यह है कि उसे बदला कैसे जाए। मार्क्स के विचारों ने ही युरोप, एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के कई देशों में मजदूरों और किसानों के नेतृत्व में राज्य-क्रांतियों का रास्ता साफ़ किया।

मार्क्स केवल 65 वर्ष तक जीवित रहे। उनके जीवन में उनके विचारों पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया। उनकी कई महत्वपूर्ण रचनाएँ उनके देहांत के बाद प्रकाशित हुईं। जैसे पेरिस की विख्यात पांडुलिपियाँ तो 1930 में यानी बोल्शेविक क्रांति के बाद जाकर प्रकाशित हो पायीं। ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रवर्तन करने वाली रचना जर्मन

आइडियॉलॉजी भी उनके निधन के बाद ही प्रकाशित हो पायी थी। लेकिन इसके बावजूद उनकी सक्रियताओं, विश्लेषणों और सूत्रीकरणों के इर्द-गिर्द एक बहुमुखी बौद्धिक संरचना तैयार हुई जिसे मार्क्सवाद के नाम से जाना गया। इसी मार्क्सवाद के कारण दुनिया पिछले डेढ़ सौ साल से दो हिस्सों में बँटी हुई है। लोग या तो मार्क्स के समर्थक हैं या विरोधी। आज खुद को मार्क्सवादी बताने वाले राज्यों का शीराजा अपने अंतर्विरोधों के कारण ध्वस्त हो चुका है, लेकिन मार्क्स द्वारा रखे गये पूँजीवाद विरोधी प्रस्ताव आज भी दुनिया भर में समतामूलक राजनीति के प्रेरणास्रोत बने हुए हैं। बीसवीं सदी में मानवीय ज्ञान के सभी सोपानों पर मार्क्स के विचारों का निर्णायक असर पड़ा है। चाहे समाजशास्त्र हो, राजनीतिशास्त्र हो, साहित्य-सिद्धांत अर्थशास्त्र हो, दर्शन हो या इतिहास, मार्क्स के व्यापक और निरंतर संदर्भ के बिना ज्ञान की कोई भी रचना पूर्ण नहीं है।

मार्क्स ने एक घटनापूर्ण जीवन जिया और विशद वांगमय रचा। उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र को स्पर्श करने वाले विचार व्यक्त किये। मुख्यतः उनके कृतित्व के केंद्र में पूँजीवाद का विस्तृत विश्लेषण और उसके मर्म में मौजूद वर्ग-संबंधों की गतिशीलता है। इसमें कोई शक नहीं कि मार्क्स का चिंतन पश्चिम के कई विचारकों और समाज-वैज्ञानिकों के कृतित्व की बुनियाद पर खड़ा हुआ है। शायद इसीलिए कई बार मार्क्स को समझने के लिए उनके विमर्श को विभिन्न दार्शनिकों और अर्थशास्त्रियों के सूत्रीकरणों को जोड़ कर बनाये गये ढाँचे के रूप में पेश किया जाता है। इस सरलीकृत रवैये के तहत कहा जाता है कि मार्क्स ने जर्मन भाववादी दार्शनिक हीगेल से द्वंद्ववाद सीखा और उन्हीं से यह सूत्र भी ग्रहण किया कि सभी दार्शनिक समस्याओं का समाधान इतिहास में मौजूद है। द्वंद्ववाद और इतिहास संबंधी हिगेलियन समझ में उन्होंने लुडविग फ़ायरबाख़ के भौतिकवाद को मिला कर अपने दार्शनिक विचारों की इमारत खड़ी की। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक की इस दलील को अपनाया कि श्रमिकों को अपने श्रम के लाभों पर मिल्कियत हासिल होनी चाहिए। साथ ही उन्होंने डेविड रिकार्डों के इस सूत्रीकरण को भी अंगीकार किया कि किसी भी उत्पाद का मूल्य उसे उत्पादित करने वाले श्रम पर आधारित होता है। मार्क्स के चिंतन को इधर-उधर से लिए गये टुकड़ों का जोड़ बताने वाला यह रवैया यहीं नहीं रुकता। वह और आगे जा कर कहता है कि जर्मन दर्शन और ब्रिटिश क्लासिकल अर्थशास्त्र के अलावा उन्होंने फ़्रांसीसी समाजवाद के प्रतिपादक सैं-सिमों और चार्ल्स फूरिये से उनकी समाजवादी संकल्पना और विज्ञानसम्मत होने का आग्रह प्राप्त किया।

समझने के इस प्रचलित तरीके से मार्क्स के योगदान



कार्ल हाइनरिख मार्क्स (1818-1883) : युवा मार्क्स

पर न केवल एक कमतर रोशनी पड़ती है, बल्कि उनकी मौलिकता भी खारिज हो जाती है। दरअसल, उनके दर्शन के मर्म में प्रमुख समस्या यह थी कि मनुष्य होने का तात्पर्य क्या है अर्थात् अपने परिवेश के आत्म-सचेत निर्माता के रूप में मनुष्य इस प्रकृति में अन्य जीवों से किस तरह अलग है। मार्क्स ने सवाल उठाया कि मनुष्य अपने पसंदीदा समाज की रचना करना तो चाहता है, लेकिन उसमें कामयाब क्यों नहीं होता? वे इस नतीजे पर पहुँचे कि मनुष्य इतिहास की रचना अवश्य करता है, पर अपनी इच्छित परिस्थितियों के तहत नहीं। इसी क्रम में उन्होंने पता लगाने की कोशिश की कि मौजूदा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कैसे बनी, उन्होंने मानवीय सम्भवानाओं को पूर्णरूपेण पुष्पित-पल्लवित होने से कैसे रोका और मनुष्य अपनी रचनात्मक क्षमताओं के शिखर पर कैसे पहुँच सकता है।

मार्क्स के इस केंद्रीय सरोकार में कई रैडिकल सम्भावनाएँ थीं जिन्हें साकार करने के लिए उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती ज्ञान-परम्परा से सीखा भी और उसकी रचनात्मक आलोचना भी की। यह एक संश्लिष्ट प्रक्रिया थी जिसके दौरान उनका शास्त्र विकसित हुआ। 1841 में दर्शनशास्त्र में डॉक्टरेट करने के दौरान और बाद में चले राजनीतिक

घटनाक्रम ने मार्क्स के सामने स्पष्ट कर दिया कि वे विश्वविद्यालयीय प्रणाली में अपना कैरियर नहीं बना सकते। फ्रीड्रिख विल्हेल्म-चतुर्थ की अनुदार सरकार वामपंथी रुझान रखने वाली यंग हिगेलियन विद्वत्समण्डली से सख्त नाराज़ थी, जिसके प्रमुख सदस्य मार्क्स भी थे। अगले साल से मार्क्स ने राइनलैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम के रैडिकल पत्रों का सम्पादन शुरू कर दिया। अखबारनवीसी के इस दौर ने उनके जीवन पर दो तरह के असर डाले। पहले तो उन्हें एहसास हुआ कि सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर उनकी पकड़ कितनी कम है। यह प्रतीति उन्हें विशद और गहन अध्ययन की लम्बी परियोजना की तरफ ले गयी। इसका दूसरा असर यह हुआ कि मार्क्स के तीखे और गहन विश्लेषण के परिणामस्वरूप उस अखबार को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। परिणामस्वरूप मार्क्स ने फ्रांस चले जाने का फैसला किया। 1943 में वे फ्रांस पहुँचे और वहाँ रहने वाले जर्मन मज़दूरों और क्रिस्म-क्रिस्म के फ्रांसीसी समाजवादियों के सम्पर्क में आये। पेरिस में कुछ ही महीने गुज़ारने के बाद उन्होंने खुद को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया। उनके इसी दौर का नतीजा 1844 की विख्यात पेरिस पांडुलिपियों में निकला।

यह बात अक्सर बतायी जाती है कि मार्क्स यंग हिगेलियन आंदोलन के प्रभाव में थे। यंग हिगेलियनों की कोशिश रहती थी कि वे हीगेल के दर्शन और फ्रांसीसी ज्ञानोदय से निकले वैज्ञानिक भौतिकवाद का कोई जोड़ निकालें। लेकिन ऐसा करते हुए भी इस विद्वत्समण्डली के सदस्य अलग-अलग दिशाओं में गये। डेविड स्ट्रॉस ने ईसा मसीह के जीवन का सेकुलरीकरण करने वाले ब्योरे तैयार किये। ब्रूनो बाँडर ने रैडिकल नास्तिकवाद का विचार विकसित किया। लुडविग फ़ायरबाख ने मानवतावाद का भौतिकतावादी संस्करण गढ़ा। अर्नोल्ड रुज ने उदारतावादी लोकतंत्र की राह पकड़ी। मोज़ेज़ हेस ने साम्यवाद में निहित सामाजिक समानता की पैरोकारी की। लेकिन मार्क्स ने अपनी मित्रता क्रायम की फ्रेड्रिख एंगेल्स के साथ जो बार्मेन शहर के थे और कैल्विनवादी धार्मिक विचारों से जद्दोजहद करते हुए दर्शनशास्त्र की तरफ आये थे। एंगेल्स ने ही पेरिस में मार्क्स का परिचय मज़दूर वर्ग के आंदोलन से कराया। एंगेल्स की सोहबत में मार्क्स राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन की तरफ आकर्षित हुए। इन दोनों की जोड़ी का महत्त्व ऐतिहासिक साबित हुआ।

ये दोनों युवा दार्शनिक हीगेलियन द्वंद्ववाद से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने निरंतर विकासमान समग्र यथार्थ की द्वंद्वत्मक गतिशीलता के इस सिद्धांत को 'क्रांति का अलज़बरा' करार दिया। लेकिन इस बीजगणित के फ़ार्मूलों की दार्शनिक भित्ति अभी स्पष्ट न थी। इसे हासिल करने की

प्रक्रिया में मार्क्स ने केवल *इकॉनॉमिक ऐंड फिलॉसॉफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844* में बल्कि इसी समय की एक अन्य रचना *द होली फैमिली* में जर्मन भाववाद से हटते हुए नज़र आये। हीगेल की मान्यता यह थी कि एक परितृप्त और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की रचना का कार्यभार धार्मिक आत्मनिष्ठता की प्राप्ति के ज़रिये सम्भव है। यंग हीगेलियनों को दिखाई दे रहा था कि आधुनिक सभ्यता और संस्कृति मनुष्य को अपने ही परिवेश में बेगानेपन का शिकार बना देती है। वे यह ज़रूर मानते थे कि इस बेगानेपन से पार पाने की सम्भावनाएँ भी उसी संस्कृति में निहित हैं। लेकिन यंग हीगेलियनों को इस द्वंद्व में से निकलने का तरीका पता नहीं था। पेरिस की पांडुलिपियों में मार्क्स ऐसे पहले दार्शनिक बन कर उभरे जिन्होंने मनुष्य की जीवन-स्थितियों में सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के बुनियादी महत्त्व को रेखांकित किया। उन्होंने दिखाया कि अपनी श्रम संबंधी गतिविधियों के दौरान किस प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ व्यावहारिक संबंधों की रचना करता है। चूँकि श्रम करता हुआ मनुष्य उनके विचार के केंद्र में था, इसलिए उन्होंने उसके बेगानेपन, शोषण और तकलीफ़ पर गहराई से चिंतन किया। मार्क्स ने जो विमर्श विकसित किया उसका मक़सद मेहनत करते हुए इनसान के रोज़मर्रा के भौतिक हालात सुधारने तक सीमित नहीं था, बल्कि वे ऐसी परिस्थितियों का सृजन करना चाहते थे जिनके तहत वह पूरी तरह आज़ाद हो कर एक सम्पूर्ण और संतुष्ट जीवन जीते हुए सामाजिक धरातल पर आत्माभिव्यक्ति कर सके। मार्क्स की निगाह में मनुष्य अपने बेगानेपन से तभी मुक्त हो सकता था जब उसकी दशा-दिशा को महज़ राजनीतिक अर्थशास्त्र के भौतिकवादी विमर्श के ज़रिये समझने की कोशिश की जाये।

इनसान के बेगानेपन के इलाज के सवाल पर हीगेल और फ़ायरबाख़ की दार्शनिक मुठभेड़ दरअसल भाववाद और भौतिकवाद की टक्कर थी। हीगेल की कोशिश यह समझाने की थी कि प्रकृति सीमित ज़रूर है पर मानवीय चेतना के असीम से वंचित होने के बजाय उसकी अभिव्यक्ति है। अगर यह समझ लिया जाए तो बेगानेपन से मुक्ति मिल सकती है। फ़ायरबाख़ का तर्क यह था कि मनुष्य को मुक्ति किसी असीम से तादात्म्य स्थापित करने से नहीं मिलेगी, बल्कि उसकी मुक्ति तो प्रकृति की भौतिकता और ऐंद्रिकता का आनंद उठाते हुए अन्य मनुष्यों के साथ प्रेमिल समरसता से उपलब्ध होगी। इस मुठभेड़ में एक सहमति भी शामिल थी। हीगेल और फ़ायरबाख़ मानते थे कि बेगानेपन का बोध मूलतः है एक भ्रांत चेतना का परिणाम ही, इसलिए अगर इस जगत की सही व्याख्या, सही समझ हासिल कर ली जाए तो बेगानेपन का यह एहसास ख़त्म हो सकता है। दोनों दार्शनिक चेतना के बेगाने पहलुओं की दुहरी प्रकृति पर भी उँगली रख रहे थे। उनका कहना था कि यह बेगानगी एक व्यर्थ जीवन

के अफ़सोस और जगत से परे कहीं जा कर धर्म और अध्यात्म में उसके परिहार की उम्मीद से मिल कर बनी है। अफ़सोस तड़पाता है और उम्मीद दिलासा देती है।

मार्क्स ने भाववाद और भौतिकवाद की इस मुठभेड़ में तीसरा मक़ाम पकड़ा। उनका कहना था कि बेगानी चेतना द्वारा व्यक्त व्यर्थ-जीवन के विलाप से उसकी सच्चाई का पता चलता है और बेगानेपन की संरचना स्पष्ट होती है। इसी बेगानेपन की एक अभिव्यक्ति धर्म है, जो जीवन की रिक्तता, गरिमाहीनता और पतनशीलता का लक्षण भी है और इसको बर्दाश्त करने की, उसकी निरंतर पीड़ा, दुःख और अमानवीयता टीस से बचने की अफ़ीम जैसी दवा भी है। मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किया गया अफ़ीम का रूपक लगातार चर्चा में रहा है।

इसका मतलब है एक ऐसा उपचार जो वास्तविक मज़ का तो इलाज़ नहीं कर सकता पर दर्द-निवारक की तरह राहत ज़रूर देता है। अपने लेखन में आगे चल कर मार्क्स धर्म के ज़रिये वास्तविक द्वंद्वों के प्रति जागरूक हो सकने की सम्भावना भी व्यक्त करते हैं। भाववाद और भौतिकवाद की इस बहस का समापन मार्क्स ने हीगेल और फ़ायरबाख़ की इस दावेदारी के खण्डन के साथ किया कि जगत की सही व्याख्या या समझ बेगानेपन की भ्रांत अनुभूति से छुटकारा दिला देगी। मार्क्स का सूत्रीकरण यह था कि सवाल जीवन और जगत की सही-सही दार्शनिक व्याख्या का नहीं है, बल्कि ऐसी भौतिक स्थितियों की उपलब्धि का है जिनके तहत इनसानी ज़िंदगी किन्हीं भी अर्थों में अपूर्णता के लिए अभिशप्त न रह सके। मार्क्स जब दुनिया बदलने की बात करते हैं तो उसके पीछे उनका यही तात्पर्य होता है। पेरिस की पांडुलिपियों के अतिरिक्त इस संबंध में मार्क्स की एक और महत्त्वपूर्ण रचना है *थीसिस ऑन फ़ायरबाख़* जिसमें उनकी फ़ायरबाख़ संबंधी टिप्पणियाँ दर्ज हैं।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिख एंगेल्स (1976-2005), *क्लेक्टिड वर्क्स*, 50 खण्ड, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क.
2. ईसैया बर्लिन (1978), *कार्ल मार्क्स : हिज़ लाइफ़ ऐंड एनवायरनमेंट*, चौथा संस्करण, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. हाल ड्रैपर (1977-2008), *कार्ल मार्क्सज़ थियरी ऑफ़ रेवोल्यूशन*, छह खण्ड, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. अंस्टं फ़िशर (1970), *इसेंशियल मार्क्स, हर्डर ऐंड हर्डर*, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

कार्ल हाइनरिख मार्क्स-2

(ऐतिहासिक भौतिकवाद)

(Karl Heinrich Marx-2)

पेरिस पांडुलिपियों में कम्युनिज़म की मानवतावादी अवधारणा का प्रतिपादन करने के बाद मार्क्स ने मानव-समाज के विकास में इतिहास की भूमिका पर ध्यान दिया। हुआ यह कि 1844 के अंत में उन्हें और एंगेल्स को उनकी रैडिकल गतिविधियों के कारण फ्रांस से निष्कासित कर दिया गया। वे ब्रुसेल्स (बेल्जियम) पहुँचे और तीन साल का वक्त वहीं गुज़ारा। यहीं उन्होंने इतिहास का गहन अध्ययन किया जिसका परिणाम ऐतिहासिक अनुसंधान के एक सामान्य कार्यक्रम की प्रस्तावना में निकला जिसकी पहली अभिव्यक्ति *जर्मन आइडियॉलॉजी* नाम की कृति में हुई। इस प्रस्तावना के केंद्र में था ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रतिपादन जो स्वयं मार्क्स और उनके जोड़ीदार एंगेल्स के शब्दों में अमूर्त परिकल्पनाओं पर आधारित कोई दार्शनिक प्रपत्ति न हो कर यथार्थपरक तथ्यों पर आधारित था। मार्क्स ने यह भी स्वीकार किया है कि एक बार जब ऐतिहासिक भौतिकवाद का सूत्र उनके हाथ लग गया तो फिर उन्होंने और एंगेल्स ने अपने सभी अध्ययनों में उसे मार्गदर्शक अंतर्धारा की तरह इस्तेमाल किया।

ऐतिहासिक भौतिकवाद कुछ मान्यताओं पर आधारित है। पहली मान्यता यह है कि अपनी उत्पादक शक्तियों का लगातार विकास करने की इच्छा मनुष्य के स्वभाव में निहित है। पूँजीवाद के आगमन ने इतिहास में पहली बार कुछ खास तरह की परिस्थितियाँ पैदा कर दी हैं। पूँजीपति वर्ग और पूँजीवाद के आगमन से पहले मानवीय इतिहास आदिम साम्यवाद, उसके बाद दास प्रथा, फिर सामंतवाद को लम्बी अवधियों से गुज़र चुका है। पूँजीवाद के तहत मनुष्य ने

आपसी सहयोग के जटिल नेटवर्कों के माध्यम से इन शक्तियों को इतना बढ़ा लिया है कि अपने उत्पादन के सामाजिक रूपों के नियंत्रण की बागडोर उसके हाथ में आ गयी है। उत्पादन और उस पर नियंत्रण की यह प्रक्रिया मनुष्य को आत्म-सचेत और आत्म-निर्णय से सम्पन्न बनाती है। लेकिन दूसरी तरफ़ पूँजीवाद एक गड़बड़ भी करता है। उसके सामाजिक उत्पादन को उत्पादकों के हाथ में देने के बजाय बाज़ार के हवाले कर देता है जिससे मनुष्य का सामूहिक आत्म-निर्णय कुंठित हो जाता है। इसी सामूहिक आत्म-निर्णय की पुनः प्राप्ति की सम्भावनाएँ मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग की ऐतिहासिक स्थिति में देखीं। आधुनिक समाज का विश्लेषण करते समय मार्क्स कई वर्गों की मौजूदगी रेखांकित करते हैं। इसमें कुलीन-सामंत वर्ग, किसान वर्ग और निम्न-पूँजीवादी वर्ग भी है। लेकिन वे बताते हैं कि मुख्य अंतर्विरोध पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा के बीच ही है। दूसरी मान्यता यह है कि समाज का आर्थिक ढाँचा (जो उसके उत्पादन-संबंधों से बनता है) ही उसकी बुनियाद है। इस आधार पर ही विधिक और राजनीतिक अधिरचना टिकी होती है। किसी युग में प्रचलित समाज के विविध रूप इसी आधार-अधिरचना संबंध की देन होते हैं। तीसरी मान्यता यह है कि जब किसी समाज में उत्पादक शक्तियाँ विकसित होती हैं तो उनका मौजूदा उत्पादन-संबंधों से टकराव होता है क्योंकि वे उन शक्तियों का विकास रोकते हैं। इसी टकराव के गर्भ से सामाजिक क्रांति जन्म लेती है। यह अंतर्विरोध समाज को बाँट देता है। एक-दूसरे के खिलाफ़ खड़े वर्गों में संघर्ष होता है जिसका फ़ैसला उत्पादक शक्तियों के पक्ष में होता है और नये उच्चतर उत्पादन-संबंध वजूद में आते हैं। मार्क्स यह भी बताते हैं कि ये संबंध कहीं ऊपर से टपक नहीं पड़ते, बल्कि पुराने समाज के गर्भ में कहीं पनप रहे होते हैं। उत्पादक शक्तियों से मार्क्स का तात्पर्य केवल औज़ारों, मशीनों और कारखानों से नहीं था। वे मानवीय कौशल, ज्ञान, अनुभव और मनुष्य की अन्य खूबियों को भी उत्पादक-शक्ति का दर्जा देते हैं। ये शक्तियाँ ही मिल कर किसी समाज में भौतिक उत्पादन करने की ताकत की रचना करती हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद दावा करता है कि वर्गों के बीच संघर्ष और मानवीय इतिहास का बुनियादी रुझान उत्पादक शक्तियों के विकास से ही तय होता है। लेकिन इस विकास को समझने के लिए हर परिस्थिति में एक सैद्धांतिक मॉडल की ज़रूरत होती है ताकि उसके जरिये उत्पादन की किसी विशिष्ट विधि को समझा जा सके। यह सैद्धांतिक मॉडल समाजों और देशों के हिसाब से अलग-अलग हो सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि ऐतिहासिक भौतिकवाद मानवीय इतिहास की गति का एक पूर्व-निर्धारित क्रिस्म का खाका पेश करता है। नवम्बर, 1877 में मार्क्स ने अपने एक पत्र में इस सिद्धांत से निकलने वाली इस छवि का निराकरण

करने की कोशिश यह कह कर की थी कि उन्होंने ऐसे किसी ऐतिहासिक-दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया है जो हर तरह के समाज पर इतिहास की एक निर्धारित गति थोपता हो। मार्क्स ने युरोपीय सामंतवाद और फिर पूँजीवाद के आगमन का ही गहरा और विस्तृत ऐतिहासिक अध्ययन किया था। बाक्री उत्पादन-प्रणालियाँ उनके यहाँ विश्लेषण की कोटियाँ भर हैं।

मार्क्सवादियों ने इतिहास की भौतिकवादी समझ को एक ऐसी व्याख्यात्मक रूपरेखा की तरह ग्रहण किया है जिसे न केवल अतीत में हुए परिवर्तनों पर लागू किया जा सकता है, बल्कि उसके आर्डने में भविष्य की शकल-सूरत देखने की चेष्टा भी की जा सकती है। इसके मुताबिक पूँजीवाद को संकटग्रस्त होना ही है क्योंकि पूँजीपति वर्ग उत्पादक शक्तियों के निरंतर विकास की शर्त पूरा नहीं कर सकता। इसलिए वह ऐसे अंतर्विरोधों का शिकार होने के लिए अभिशप्त है जिनका लाभ उठा कर सर्वहारा वर्ग उसका तख्ता पलट देगा।

एक बार जब मार्क्स के विचारों का दार्शनिक और तथ्यगत आधार तैयार हो गया, तो उसके बाद दर्शन और राजनीति के प्रश्नों पर रैडिकल कृतियाँ सामने आने लगीं। साथ ही कम्युनिस्ट आंदोलन की सांगठनिक आधारशिला भी रखी जाने लगी। 1847 में मार्क्स ने प्रूथों की अनावश्यक रूप से आदर्शवादी दावेदारियों का सिलसिलेवार खण्डन करते हुए *द पॉवर्टी ऑफ़ फिलॉसफी* की रचना की। उनका कहना था कि मनुष्य अपनी मन-मर्जी से समाज के इस या उस रूप को रचने का चयन नहीं कर सकता। यथार्थ के कई तत्त्व और पहलू ऐसे होते हैं जो कुछ सम्भावनाओं को रोक देते हैं और कुछ को आगे बढ़ाते हैं। इसी क्रम में मार्क्स ने दिखाया कि पूँजीवादी समाज के बुनियादी ढाँचे में एक क्रांतिकारी वर्ग के जन्म की परिस्थितियाँ मौजूद हैं। वह क्रांतिकारी वर्ग सर्वहारा या मजदूर वर्ग होगा।

इसी वर्ष मार्क्स ने जर्मन आप्रवासी मजदूरों के संगठन कम्युनिस्ट लीग की सदस्यता ग्रहण की जिसका केंद्र लंदन में था। साल के अंत में लीग ने मार्क्स और एंगेल्स को *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* लिखने की ज़िम्मेदारी दी जिसका प्रकाशन 1848 में हुआ। यह रचना वर्ग-संघर्ष, ऐतिहासिक भौतिकवाद और क्रांति की अवश्यम्भाविता के बारे में उनके विचारों का संक्षिप्त, सुस्पष्ट और प्रेरक वक्तव्य थी। इसी वर्ष मार्क्स फ्रांस लौटे और देखा कि वहाँ क्रांति की विफलता के बाद खुद को नेपोलियन-तृतीय कहने वाले एक शरू ने निरंकुश शासन की स्थापना कर दी है। जल्दी ही रैडिकल लोकतंत्र की वकालत करने वाले मार्क्स के अखबार को इस निरंकुश हुकूमत ने बंद करवा दिया। मजदूरी में मार्क्स को निष्कासित हो कर लंदन में शरण लेनी पड़ी। उन्होंने आकलन किया कि युरोप में एक बार फिर क्रांतियों की लहर आयेगी।

इसलिए उनकी कलम से 1848 की फ्रांसीसी क्रांति के कारणों और हथ्र पर प्रकाश डालने वाली दो कृतियाँ *द क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस* और *द एंटीथ बुमेर ऑफ़ लुई बोनापार्ट* निकलीं। पचास के दशक की इन कृतियों का मुख्य स्वर यह समझाने का था कि व्यक्ति इतिहास का निर्माण अवश्य करता है पर अपनी स्वतंत्र इच्छा के मुताबिक नहीं। उसे थमायी गयी विरासत में मिले हालात के तहत काम करना पड़ता है। दरअसल, मार्क्स न केवल अपने पाठकों से यह कह रहे थे, बल्कि अपने-आप को भी सम्बोधित कर रहे थे कि मजदूर वर्गों के जिस सामाजिक गणतंत्र के सपने और सर्वहारा क्रांति के सपने को हम धरती पर उतारना चाहते हैं, वह कभी पीछे हट कर और कभी धक्का खा कर ही हासिल किया जा सकता है। उसके लिए हमें लगातार आत्मालोचना के दौर से गुजरते रहना होगा, जब तक क्रदम पीछे हटाना नामुमकिन बना देने वाली परिस्थितियाँ न आ जायें। क्रांतियों की लहर की प्रतीक्षा करते-करते मार्क्स को धीरे-धीरे यकीन होता जा रहा था कि नयी क्रांति केवल एक नये संकट के फलितार्थ के रूप में ही सम्भव हो सकती है।

पचास का दशक ही वह समय था जब लंदन में मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र का सघन अध्ययन किया। एक ओर वे पूँजीवाद की संरचनाओं की परतें उघाड़ने में लगे हुए थे, दूसरी ओर लंदन के सोहो क्वार्टर्स के एक तीन कमरों के फ्लैट में रह रहा उनका परिवार भीषण गरीबी से जूझ रहा था। लंदन में क्रदम रखते समय उनके चार बच्चे थे, जल्दी ही दो और पैदा हो गये। गरीबी और अभाव के कारण इन छह संतानों में से तीन काल के गाल में समा गयीं। स्वयं मार्क्स का स्वास्थ्य इस क्रदर खराब हुआ कि वे उस झटके से पूरी तरह कभी नहीं उबर पाये। उन दिनों मार्क्स की आमदनी का साधन *न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून* के विदेशी संवाददाता के रूप में लिखे जाने वाले साप्ताहिक लेख थे। एक लेख लिखने के बदले उन्हें एक पाउंड मिलता था। इसके अलावा एंगेल्स भी उनकी कुछ आर्थिक मदद करते थे। एंगेल्स के पिता मैनचेस्टर में सूत मिल के मालिक थे। जैसे ही बीच-बीच में उनकी तबीयत कुछ ठीक होती, वे ब्रिटिश म्यूज़ियम की लाइब्रेरी में अहर्निश अध्ययन में जुट जाते। पचास के दशक के आखिरी दौर में और साठ के दशक की शुरुआत में मार्क्स की आर्थिक हालत कुछ ठीक हुई। 1857-58 तक मार्क्स आठ सौ पृष्ठ की एक पांडुलिपि तैयार कर चुके थे। यह एक कच्चा मसविदा था जिसमें पूँजी, ज़मीन, मजदूरी, राज्य की संस्था, विदेशी व्यापार और विश्व बाज़ार जैसे विषयों पर उनकी सामग्री और विश्लेषण दर्ज था। यह पांडुलिपि *ग्रंडरिसे* या *आउटलाइन* के नाम से जानी जाती है। साठ के दशक की शुरुआत में मार्क्स ने इसी पांडुलिपि को तीन बड़े ग्रंथों में विभाजित करके *थियरीज़ ऑफ़ सरप्लस वेल्थ* की रचना की

जिनमें राजनीतिक अर्थशास्त्र के ऐडम स्मिथ और रिकार्डो जैसे पूर्ववर्तियों के काम पर उनके विचार थे। अध्ययन का यही सिलसिला 1867 में जा कर *कैपिटल* नामक महाग्रंथ में शीर्ष पर पहुँचा। *ग्रंडरिसे* 1971 में प्रकाशित हुई और उसे 'युवा मार्क्स' और 'प्रौढ़ मार्क्स' के दरमियान एक कड़ी माना जाता है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, क्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. जे. रीस (1998), *द अलज़बरा ऑफ़ रेवोल्यूशन : द डायलेक्टिक ऐंड द क्लासिकल मार्क्सिस्ट ट्रेडिशन*, रॉटलेज, लंदन.
2. अर्नेस्ट मेंडल (1968), *द प्लेस ऑफ़ मार्क्सिज़म इन हिस्ट्री*, ह्यूमैनिटीज़ प्रेस, अटलांटिक हाइलाइट्स, एनजे.
3. ए.एच. निम्ज़ जूनियर (2000), *मार्क्स ऐंड एंगेल्स : देयर कंट्रीब्यूशन टू द डेमोक्रेटिक ब्रेकथ्रू*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयॉर्क प्रेस, एल्बैनी.
4. डेविड मैक्लेन (1971), *द थॉट्स ऑफ़ कार्ल मार्क्स : एन इंटीडक्शन*, हार्पर ऐंड रो, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3

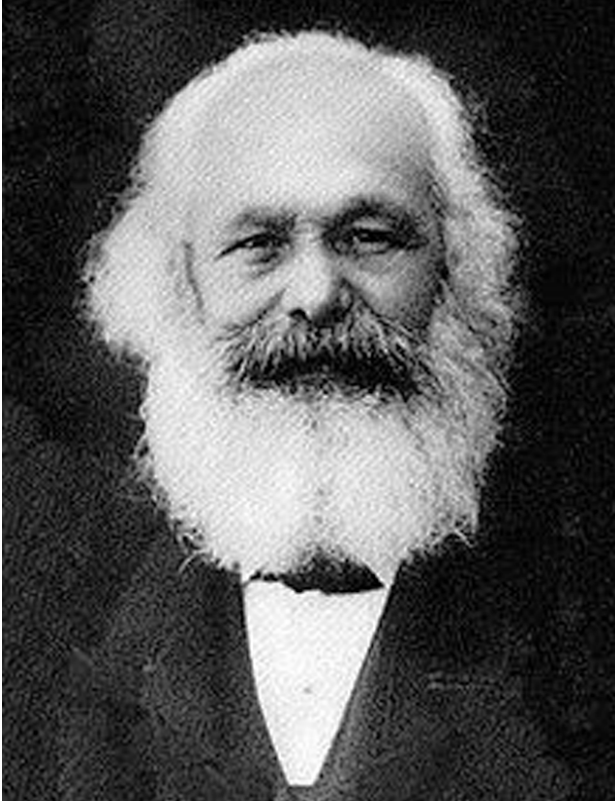
(पूँजीवाद का विश्लेषण)

(Karl Heinrich Marx-3)

कार्ल मार्क्स की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने कहा था कि उनके मित्र ने हर क्षेत्र में महान खोजें कीं, लेकिन उनकी दो खोजें सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण हैं। पहली है ऐतिहासिक भौतिकवाद जिसके ज़रिये उन्होंने मानवीय इतिहास के विकास के नियम खोज निकाले, और दूसरी है अधिशेष मूल्य का सिद्धांत जिसके माध्यम से उन्होंने पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की गतिशीलता और उसके कारण बनने वाले पूँजीवादी समाज

की रचना पर रोशनी डाली। एंगेल्स की यह बात बिल्कुल सही थी। दार्शनिक, समाज-द्रष्टा और क्रांतिकारी होने के साथ-साथ कार्ल मार्क्स आर्थिक विज्ञान के एक युगप्रवर्तक शिखर पुरुष भी थे। हालाँकि आर्थिक विचारों के इतिहास में उन्हें क्लासिकल अर्थशास्त्री की श्रेणी में गिना जाता है, पर उनका प्रभाव केवल यहीं तक सीमित नहीं माना जा सकता। समाज-विज्ञान के इस अनुशासन को एक अर्थशास्त्री के रूप में उन्होंने जितना प्रभावित किया, उसकी तुलना केवल ऐडम स्मिथ और जॉन मेनार्ड कींस से ही की जा सकती है। स्मिथ मुख्य तौर पर मुक्त बाज़ार पर आधारित पूँजीवादी आर्थिक तंत्र से होने वाले लाभों के पैरोकार थे। कींस ने पूँजीवाद की सीमाओं और बुराइयों से वाकिफ़ होते हुए भी सुसंगत राजकीय नीतियों का इस्तेमाल करके उसे बचाने की तरकीबें खोजने में अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल किया। लेकिन, मार्क्स ने मानवता के विकास में पूँजीवाद की सकारात्मक भूमिका स्वीकारने के बावजूद उसके हानिकारक पक्षों को रेखांकित किया और रैडिकल रवैया अख़्तियार करते हुए अंततः उसके विनाश की भविष्यवाणी की। मार्क्स का नाम समाजवादी अर्थशास्त्र से जोड़ा जाता है, लेकिन उनका आर्थिक लेखन इसका मामूली सुराग ही देता है। उन्होंने मुख्य रूप से पूँजीवादी अर्थतंत्र के कामकाज का अध्ययन किया और उन समस्याओं का विश्लेषण पेश किया जो पूँजीवाद के कारण पैदा होती हैं। अन्य क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की तरह मार्क्स के आर्थिक विचार भी उनके दार्शनिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। मार्क्स ने हीगेल द्वारा प्रतिपादित निरंतर चलने वाली परिवर्तन की द्विधात्मक प्रक्रिया को स्वीकार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हर आर्थिक प्रणाली अपनी विपरीत शक्तियों को पैदा करती है और इसी प्रक्रिया में उसके भीतर लाज़मी तौर पर परिवर्तन होता है। यह सिद्धांत यथास्थिति को नकारने और किसी भी व्यवस्था में अंतर्विरोध पैदा करने के लिए काफ़ी था। मार्क्स ने अपनी यह रैडिकल विचार-दृष्टि पूँजीवाद के अध्ययन पर भी लागू की। उनकी व्याख्याएँ और दलीलें *द कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो*, *दास कैपिटल* (तीन खण्ड), *थियरीज़ ऑफ़ सरप्लस वैल्यू* (तीन खण्ड), *वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफ़िट* और *वेज लेबर ऐंड कैपिटल* जैसे विख्यात और बहुचर्चित ग्रंथों में वर्णित हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की अपनी योजना के मुताबिक़ मार्क्स पूँजीवाद को मानव समाज के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के एक ऐसे चरण की तरह देखते हैं जिसका आगमन सामंती आर्थिक निज़ाम के बाद हुआ। मनुष्य शुरू में आखेट और संग्रह के ज़रिये आर्थिक गतिविधियाँ करता था। इसके बाद उसने खेतहर समुदायों के रूप में जीवनयापन करना शुरू किया, जो जल्दी ही सामंती आर्थिक संबंधों में विकसित हो गया। सामंतवाद के तहत भू-



कार्ल हाइनरिख मार्क्स (1818-1883) : परिवक्व मार्क्स

स्वामियों द्वारा मुहैया करायी गयी सुरक्षा के बदले किसान उन्हें अपनी उपज का एक हिस्सा देने लगे। यही सामंतवाद उस समय पूँजीवाद में बदला जब छोटे पैमाने की मैन्यूफैक्चरिंग करने वाले और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर माल की तिजारत करने वाले व्यापारियों का उद्भव हुआ।

मार्क्स अपनी रचनाओं में हर आर्थिक चरण के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं की चर्चा करते हैं। पूँजीवाद के भी कई पहलू उनकी निगाह में श्रेयस्कर हैं; जैसे, पूँजीवाद बेहतर प्रौद्योगिकी और मशीनों का उपयोग करके औसत जीवन-स्तर बढ़ाने में कामयाब होता है। दूसरे, वह 'ग्रामीण जीवन की अबोधता' से मजदूरों को निकाल कर शहरों और महानगरों की तरफ ले जाता है। पूँजीवाद के नकारात्मक पहलुओं की शिनाख्त उन्होंने इस व्यवस्था की अनिवार्य चरित्रगत बुराइयों के रूप में की। दिलचस्प बात यह है कि *द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* के दूसरे अध्याय में मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था में कई तरह के सुधारों की नीतिगत तजवीजें करते हैं: सार्वजनिक पुस्तकालयों की स्थापना, मुफ्त शिक्षा का प्रावधान, कारखानों में बाल श्रम का उन्मूलन, प्रगामी आयकर, सभी तरह की निजी विरासत का अंत, संचार और परिवहन पर सरकारी नियंत्रण और एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना। लेकिन मार्क्स ने यह भी दावा किया कि ये उपाय पूँजीवाद को ज़्यादा से ज़्यादा सहन करने योग्य ही बना सकते हैं। उसके नकारात्मक पहलुओं का बुनियादी समाधान किसी तरह की आर्थिक नीतियों के

ज़रिये नहीं हो सकता। उनका तर्क था कि व्यवस्था कैसे भी उपाय करे, पूँजीवाद इन्हीं समस्याओं के कारण उत्तरोत्तर संकटग्रस्त होता चला जाएगा और एक दिन अपने ही अंतर्विरोधों से उसे नष्ट हो जाना पड़ेगा।

मार्क्स के अनुसार मजदूरों का शोषण पूँजीवाद का मुख्य लक्षण है। शोषण के विचार के पीछे मार्क्स की मूल्य संबंधी धारणा थी जिसके आधार में रिकार्डों द्वारा प्रतिपादित मूल्य का श्रम सिद्धांत था। रिकार्डों की ही भाँति मार्क्स मानते हैं कि किसी भी वस्तु का मूल्य उसे उत्पादित करने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष श्रम के आधार पर आँका जाना चाहिए। लेकिन, अपने मूल्य सिद्धांत में मार्क्स यहीं नहीं रुके। रिकार्डों के परे जाते हुए उन्होंने *कैपिटल* के पहले खण्ड में कहा कि किसी ज़िंस या वस्तु का उपयोग-मूल्य उसके भौतिक गुणों पर निर्भर होता है जिसकी प्राप्ति उस वस्तु के उपभोग की प्रक्रिया में होती है। मार्क्स के अनुसार मूल्य एक तकनीकी संबंध न हो कर मनुष्यों के बीच का एक सामाजिक संबंध है जो पूँजीवाद के तहत एक ख़ास तरह का भौतिक रूप अख़्तियार करके ज़िंस के रूप में प्रकट होता है; अर्थात् मूल्य सिर्फ़ एक दिमागी अवधारणा नहीं है, बल्कि पूँजीवादी सामाजिक संबंध उसे भौतिक रूप दे देते हैं।

मार्क्स ने मूल्य को तीन हिस्सों में बाँटा : स्थिर पूँजी (मशीनरी, प्लांट वगैरह, जिसकी कीमत में लगातार क्षय होता रहता है), परिवर्ती पूँजी (मजदूरी, जो बदलती रहती है) और अधिशेष मूल्य (सरप्लस वैल्यू जो स्थिर पूँजी और परिवर्ती पूँजी के ऊपर हासिल किया जाता है)। मार्क्स ने पूँजीवाद के सारतत्त्व की इस तरह व्याख्या की : धन के ज़रिये मशीन और श्रम ख़रीदना ताकि वस्तु का उत्पादन किया जाए, और फिर उसे ज़्यादा दामों पर बेच कर अधिशेष मूल्य प्राप्त किया जा सके। चूँकि मजदूर के पास पूँजी नहीं होती इसलिए वह अपना श्रम बेचने के लिए मजबूर होता है। अपने नित्य प्रयासों के ज़रिये मजदूर ज़िंस ही नहीं बनाता, वे मशीनें भी बनाता है जिनसे भविष्य में और माल बन सकता है। लेकिन मजदूर को अपनी कोशिशों से बने माल का पूरा मूल्य मजदूरी के रूप में नहीं मिलता। अपने एक कार्यदिवस के शुरुआत के हिस्से में ही अपनी मजदूरी लायक माल बना देता है, और बाक़ी हिस्से में वह पूँजीपति के मुनाफ़े के लिए काम करता है। पूँजीपति कार्यदिवस की अवधि बढ़ा कर, श्रम की सघनता बढ़ा कर और काम के बीच में उसे सुस्ताने का कोई मौक़ा न दे कर अधिक से अधिक अधिशेष मूल्य पैदा करने की कोशिश करता है।

अधिशेष मूल्य के सिद्धांत को अधिक परिष्कृत करते हुए मार्क्स ने श्रम और श्रम-शक्ति के बीच अंतर करके यह दिखाया कि अधिशेष मूल्य केवल मजदूरी ख़रीदने और बेचने के क्रम में हुई नाइंसाफ़ी का नतीजा नहीं है। अगर श्रम-शक्ति

उसके सही मूल्य पर बेची जाए तो भी अधिशेष मूल्य उस श्रम द्वारा किये जाने वाले उत्पादन के भीतर पैदा हो जाता है; अर्थात् मजदूर का शोषण व्यक्तिगत धरातल पर मजदूर और मालिक के बीच हुए आदान-प्रदान पर निर्भर नहीं होता, बल्कि वह उत्पादन की प्रक्रिया में ही निहित है। शोषक और शोषित की हैसियत न्यायसंगत विनिमय स्थापित करने से खत्म नहीं हो सकती। वह तो एक वर्गीय हैसियत है जो इस बात से तय होती है कि उत्पादन के साधनों पर किसका कब्जा है। इस कब्जे का फैसला केवल वर्गों के बीच संघर्ष से ही हो सकता है।

मार्क्स ने अधिशेष मूल्य के परम और सापेक्ष पहलुओं की व्याख्या करने से पहले पण्यों और मुद्रा के संचार की रूपरेखा पेश की। इस प्रकार उन्होंने पूँजीवादी संचय की प्रकृति रेखांकित की और पता लगाया कि मजदूरी और मजदूर वर्ग के लिए उसके क्या फलितार्थ हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि पूँजी के दो घटक होते हैं : अतीत में उत्पादित की जा चुकी वस्तुओं में निहित 'मृत' श्रम उसका स्थिर घटक होता है, और वर्तमान में किया जाने वाले से श्रम उसका परिवर्ती घटक बनता है। पूँजी जैसे-जैसे संचित होगी, परिवर्ती घटक में बढ़ोतरी होती चली जाएगी। नतीजतन मुनाफ़े की दर गिरेगी जिसे रोकने या बढ़ाने के लिए पूँजीपति को श्रम का और अधिक सघन दोहन करना पड़ेगा। चूँकि मजदूर अपने श्रम के परिणामस्वरूप पैदा होने वाले उत्पाद, उत्पादन के साधनों और उत्पादन की प्रक्रिया पर किसी भी क्रिस्म के नियंत्रण से वंचित होंगे, इसलिए उनके भीतर बेगानगी पनपने लगेगी। उसे अपनी जिंदगी चलाने के लिए जितना श्रम करना चाहिए, उससे कहीं अधिक श्रम करवाया जाएगा। काम के घंटे बढ़ते चले जाएँगे और अधिक से अधिक अधिशेष मूल्य खींचा जाएगा।

मार्क्स ने यह मानने से इनकार किया कि मजदूर आलसी और कम कुशल होता है इसलिए अधिक उत्पादन करने के लिए उसे लम्बे समय तक काम करना चाहिए। उन्होंने 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-अवधि' की धारणा का सूत्रीकरण किया और इसके लिए सामान्य उत्पादन, कार्यकुशलता के औसत स्तर और श्रम की गहनता को आधार बनाया। मानवीय क्षमता के बीच फ़र्क पर जोर देने के बजाय उन्होंने तर्क दिया कि कौशल की प्राप्ति प्रशिक्षण से हो सकती है। प्रशिक्षण के माध्यम से जटिल क्रिस्म का श्रम साधारण क्रिस्म के श्रम में बदल जाता है।

आर्थिक विज्ञान में मार्क्स का एक और मौलिक योगदान संकट-सिद्धांत है जिसने ट्रेड साइकिल थियरी या चक्रीय उतार-चढ़ाव के सिद्धांत को विकसित किया है। इसके मुताबिक हर दस साल में एक आर्थिक संकट आ सकता है। पूँजीवादी उत्पादन की प्रकृति ख़रीदने और बेचने की प्रक्रिया को अलग-अलग कर देती है जिसके कारण

बिक्री से होने वाली आमदनी नयी ख़रीद में ख़र्च करने के बजाय जमा किये जाने की सम्भावना पैदा हो जाती है। अपने जमाने के आर्थिक अनुभव पर गौर करते हुए मार्क्स ने कई उद्योगों की अलग-अलग वृद्धि दरों की जाँच करके ट्रेड साइकिल के कारणों का विश्लेषण किया।

पूँजीवाद के आंतरिक अंतर्विरोधों के बारे में मार्क्स का विचार था कि पूँजी के मालिक आपसी होड़ के कारण उत्तरोत्तर धन-सम्पत्ति बढ़ाते जाने के लिए अभिशप्त हैं। वे एक-दूसरे को दबाव में रखते हैं। उनकी हैसियत या तो बढ़ती है, या घटती है। यथास्थिति कभी क्रायम करने की कोशिश उनकी प्रतिष्ठा और सत्ता का अंत कर देती है। दूसरे पूँजीवाद लगातार इजारेदारी और आर्थिक संकेंद्रण की तरफ़ जाता है। तीसरे, मार्क्स ने पूँजीवादी प्रणाली के तहत मुनाफ़े में आने वाली गिरावट को एक सामान्य नियम की तरह देखा, और साथ में कई तरह की प्रति-प्रक्रियाओं की भी शिनाख़्त की। मार्क्स का ख़याल था कि पूँजीवादी प्रणाली के संकट को प्रमुख संकट और उसके अधीन या उससे निर्देशित होने वाले गौण संकटों के बीच बाँट कर देखना चाहिए। पूँजीपति मुनाफ़े की दर गिरने से रोकने के लिए श्रम की जगह मशीनों के इस्तेमाल से बेरोज़गारों की 'रिज़र्व फ़ौज' तैयार कर देता है जिससे सामाजिक असंतोष पनपता है। चूँकि सरकारी कोशिशें (कोई ढाँचागत सुधार या वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया) प्रणाली के बुनियादी चरित्र को नहीं बदलती, इसलिए संकट वास्तव में हल नहीं होता।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्टालिन और स्टालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. जोआन रॉबिंसन (1960), *एन एसे ऑन मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, लंदन, मैकमिलन.
2. रॉबर्ट पॉल बोलफ़ (1984), *अंडरस्टैंडिंग मार्क्स : अ रिक्लेक्शन ऑफ़ 'कैपिटल'*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, न्यू जर्सी.
3. एम.सी. हॉवर्ड (1992), *अ हिस्ट्री ऑफ़ मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, मैकमिलन एजुकेशन, बेसिंगस्टोक.

4. पी.एन. जुनानकर (1982), *मार्क्सिज़ इकॉनॉमिक्स*, फ़िलिप एन, डेडिंगटन.

— अभय कुमार दुबे

कार्ल हाइनरिख मार्क्स-4

(मज़दूर आंदोलन का सांगठनिक ढाँचा)

(Karl Heinrich Marx-4)

यह देख कर कुछ ताज्जुब हो सकता है कि मार्क्स को पूँजी के पहले खण्ड का उपसंहार करने में इतना समय लगा। इस रचना का आधार तो *ग्रंडरिसे* और *थियरीज़ ऑफ़ सरप्लस वेल्थ* में बन चुका था। आर्थिक अभाव और बीमारी की समस्याएँ तो थी हीं, पूँजी का पहला खण्ड पूरा करने में मार्क्स को इतना समय इसलिए भी लगा कि उन्होंने अपनी काफ़ी ऊर्जा कम्युनिस्ट आंदोलन का ढाँचा खड़ा करने में खर्च की। निष्कासन में रहते हुए मार्क्स और उनके साथियों ने कम्युनिस्ट लीग का पुनर्गठन किया। मार्च, 1850 में लीग की केंद्रीय समिति के सामने दिये गये भाषण में उन्होंने और एंगेल्स ने चालीस के दशक के आखिरी सालों में अपनी गतिविधियों की समीक्षा की। इस वक्तव्य में लोकतंत्र के मध्यवर्गीय पैरोकारों के साथ मज़दूर वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा क्रायम किये जाने वाले एकता और संघर्ष के रिश्ते की व्याख्या शामिल थी। मार्क्स ने चेतावनी दी कि अगर मज़दूर वर्ग पेटी-बूज्वा के साथ पूरी तरह से जुड़ जाएगा तो बड़ी मुश्किलों से हासिल हुई अपनी स्वायत्तता खो बैठेगा, क्योंकि पेटी-बूज्वा पूरे समाज के रूपांतरण की कोशिशों को कभी परवान नहीं चढ़ने दे सकता।

1864 से 1872 के बीच मार्क्स ने इंटरनैशनल वर्किंगमैनस एसोसिएशन की स्थापना में मदद की। इसी संस्था को आगे चल कर पहले कम्युनिस्ट इंटरनैशनल के नाम से जाना गया। इसमें युरोप, अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका के महत्वपूर्ण मज़दूर संगठनों की हिस्सेदारी थी। इंटरनैशनल की गतिविधियों में मार्क्स गले तक डूब गये। 1864 में मार्क्स उसकी जनरल कौंसिल में चुने गये। संगठन ने पोलैण्ड की स्वतंत्रता और आयरिश होम रूल के आंदोलन का समर्थन किया। अमेरिकी गृह युद्ध के दौरान इंटरनैशनल ने दास प्रथा के खिलाफ़ आवाज़ उठायी। फ़्रांस और जर्मनी के बीच हुए युद्ध का विरोध किया। इस संगठन की सालाना कांग्रेस की तैयारी में उन्होंने जम कर भागीदारी की और साथ में मिखाइल बाकूनिन के नेतृत्व में की जा रही अराजकतावादी दावेदारियों के खिलाफ़ बौद्धिक संघर्ष भी चलाया। इस मुठभेड़ में मार्क्स

की ही जीत हुई। मार्क्स इस पक्ष में भी थे कि इंटरनैशनल की जनरल कौंसिल का मुख्यालय लंदन के बजाय न्यूयॉर्क में बनाया जाये। 1872 में उनकी यह बात भी मान ली गयी, लेकिन इसका उल्टा असर पड़ा और इंटरनैशनल की गतिविधियों में गिरावट आने लगी।

इसी दौरान 1871 फ़्रांस में एक ऐसी घटना हुई जिसने मार्क्स का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। फ़्रांस और जर्मन के बीच युद्ध में पराजय के बाद जब अस्थायी सरकार मैदान छोड़ कर भाग गयी तो पेरिस के नागरिकों ने बगावत करके अपनी क्रांतिकारी सरकार स्थापित की। इस घटना को इतिहास में पेरिस कम्यून के नाम से जाना जाता है। तीन महीने के भीतर-भीतर फ़्रांसीसी सैनिकों ने बिस्मार्क की फ़ौजों के साथ साठगाँठ करके पेरिस कम्यून के खिलाफ़ रक्तपात आयोजित किया। मार्क्स के नेतृत्व में इंटरनैशनल कम्यून के पक्ष में खड़ा हुआ। इस विषय में लिखी गयी मार्क्स की मशहूर रचना *सिविल वार इन फ़्रांस* के नाम से जानी जाती है। अपनी इसी कृति में मार्क्स ने पहली बार दिखाया कि शासक वर्गों द्वारा तैयार किये गये पहले से चले आ रहे राज्य-तंत्र पर क़ब्ज़ा मात्र कर लेने से मज़दूर वर्ग का काम नहीं चलने वाला। उसे तो मज़दूरों के क्रांतिकारी जनवादी राज्य की स्थापना करनी होगी जिसके तहत राज्य के दमनकारी औज़ारों का धीरे-धीरे ख़ात्मा करना होगा। इस राज्य को ज़्यादा से ज़्यादा लोकतांत्रिक कामकाज के प्रत्यक्ष तौर-तरीके अपनाने होंगे। मार्क्स का विचार था कि ऐसा करने से ही राज्य की संस्था तिरोहित हो सकेगी।

जीवन के अंतिम दौर में मार्क्स ने जो लिखा उसमें *द क्रिटिक ऑफ़ गोथा कार्यक्रम* (1875) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस रचना में नवगठित जर्मन सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक पार्टी के कार्यक्रम की कड़ी आलोचना की गयी थी। यह पार्टी फ़र्दिनेंद लासाल के दल और ऑग्यूस्त बेबेल व विल्हेल्म लीबनेख्त की पार्टी के विलय का नतीजा थी। लासाल उस समय तक गुज़र चुके थे। मार्क्स का मानना था कि मज़दूरों के इस नये जन-संगठन के ऊपर लासाल का सुधारवादी और राज्यवादी रवैया हावी है। इस रचना में मार्क्स ने स्पष्ट किया कि भविष्य की मज़दूर क्रांतियों से निकलने वाले समाज पहले से कहीं ज़्यादा समतामूलक, अधिक मुक्त और अधिक राज्य-विहीन तो होंगे, पर उनमें पूँजीवादी और वर्गीय समाज के तत्त्वों का प्रभाव भी काफ़ी समय तक रहेगा।

जीवन के अंतिम दौर में मार्क्स ने रूस में क्रांति के प्रश्न पर गहराई से विचार किया, रूसी भाषा सीखने की कोशिश की, रूसी कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों से ख़तो-किताबत की। *कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो* के रूसी संस्करण की भूमिका लिखते हुए उन्होंने इस सम्भावना पर भी गौर किया कि क्या रूस के किसान कम्यून में बिना पूँजीवाद की मंजिल से गुज़रे

हुए उसमें साम्यवादी साझा स्वामित्व के मक़ाम तक पहुँचने की सम्भावना है? इस प्रश्न का उत्तर मार्क्स ने इस तरह दिया कि अगर रूस की क्रांति पश्चिम में सर्वहारा क्रांतियों की शुरुआत करवा सके और ये सभी क्रांतियाँ एक-दूसरे की मदद करें, तो यह हो सकता है कि ज़मीन की साझा मिल्कियत वाले किसानों के कम्यून कम्युनिस्ट समाज के आधार बन जायें।

मार्क्स का विचार था कि पूँजीपति अपने स्वार्थ में ऐसी किसी नीति को बनने ही नहीं देंगे जो मज़दूरों के जीवन-स्तर को बेहतरी की तरफ़ ले जा सकती हो। इसलिए उन्हें पूरा यकीन था कि वर्ग संघर्ष लाज़मी तौर पर हिंसक और क्रांतिकारी होगा। इसी तरह मार्क्स ने इस सम्भावना को भी तरजीह नहीं दी कि सरकारी नीति के ज़रिये बेरोज़गारी को कम भी किया जा सकता है, श्रमिकों को सौदेबाज़ी की ताक़त देने वाले क़ानून भी बनाये जा सकते हैं और श्रम व पूँजी के टकराव को प्रबंधित किया जा सकता है। मार्क्स के आलोचकों का कहना है कि वे पूँजीवादी प्रणाली के लचीलेपन को समझने में नाकाम रहे। समय के साथ बदलने की उसकी प्रवृत्ति की शिनाख़्त भी वे नहीं कर पाये। वे लोकतांत्रिक सरकारों की उस क्षमता को भी नहीं देख पाये जिनके तहत पूँजीवाद की निर्ममता को कम करने वाली नीतियाँ बनती हैं। यह अलग बात है कि अपनी दृष्टि की इन सीमाओं के बावजूद पूँजीवादी व्यवस्था की गतिशीलता और उससे निकलने वाले तनावों का मार्क्स से बेहतर विश्लेषण आज तक कोई और नहीं कर पाया है।

कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी के त्रिएर में एक मध्यवर्गीय और ख़ुशहाल यहूदी परिवार में हुआ था। उनके वकील पिता युरोपीय ज्ञानोदय और उदारतावादी विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने वकालत में सफलता पाने के लिए प्रोटेस्टेंट ईसाइयत भी ग्रहण कर ली थी। मार्क्स शुरू से ही एक बेहद प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। दर्शनशास्त्र में बुनियादी दिलचस्पी होने के साथ-साथ उनकी निगाह राजनीतिक घटनाक्रम पर भी रहती थी। मार्क्स के सोच-विचार पर उनके पड़ोसी और पारिवारिक दोस्त बैरन वॉन वेस्टफ़ालिन का असर भी पड़ा। वेस्टफ़ालिन फ़्रांस के काल्पनिक समाजवादी सिद्धांतकार और नेता सैं-सिमो के विचारों से काफ़ी प्रभावित थे। मार्क्स ने आगे चल कर बैरन की पुत्री और अपने बचपन की दोस्त जेनी से ही विवाह किया।

जेना विश्वविद्यालय (उन दिनों यह संस्था वामपंथी हेगेलवादियों की धुरी बनी हुई थी) से दर्शनशास्त्र की पढ़ाई और वहीं से डॉक्टरेट करने के बाद अध्यापक की नौकरी न मिलने पर मार्क्स ने एक उदार-वामपंथी अख़बार का सम्पादन किया, पर साल भर के भीतर प्रशियन सेंसर ने उसे प्रतिबंधित कर दिया। मार्क्स को पेरिस जाना पड़ा जहाँ वे कई समाजवादियों और कम्युनिस्टों के सम्पर्क में आये। वहीं उनकी फ़्रेड्रिख एंगेल्स से दोस्ती हुई। एंगेल्स एक धनी

कारखानेदार के बेटे और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री थे। उनकी रचना *द कंडीशन ऑफ़ वर्किंग क्लास इन इंग्लैण्ड* क्लासिक का दर्जा प्राप्त कर चुकी थी। एंगेल्स न केवल मार्क्स के आजीवन बौद्धिक सहयोगी साबित हुए, बल्कि उन्होंने हमेशा अपने दोस्त की आर्थिक मदद भी की।

अपने रैडिकल विचारों के कारण मार्क्स को जल्दी ही पेरिस से भी निष्कासित कर दिया गया। उन्होंने कुछ दिन ब्रुसेल्स में रहने की कोशिश की और वहाँ से भी निष्कासित होने के बाद लंदन चले गये। वहाँ अधिकारियों ने कुछ हिचक के साथ उन्हें शरण देना स्वीकार कर लिया। उनके जीवन के बाकी 33 साल लंदन में ही ब्रिटिश म्यूज़ियम लाइब्रेरी में अध्ययन और मनन करते हुए बीते। इस समय का ज़्यादातर हिस्सा उन्होंने अपनी महान रचना *कैपिटल* लिखते हुए बिताया, जिसका पहला खण्ड ही उनके जीवन में प्रकाशित हो सका। बाकी दोनों खण्ड मार्क्स के नोट्स के आधार पर उनके मित्र एंगेल्स के सम्पादन में निधनोपरान्त प्रकाशित हुए।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ़्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ़्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ़्रेज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. तियोदोर शैनिन (सम्पा.) (1983), *लेट मार्क्स ऐंड द रशियन रोड : मार्क्स ऐंड द 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ़ कैपिटलिज़्म'*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एम. रुबेल और एम. मैनाले (1976), *मार्क्स विदआउट मिथ : अ क्रोनोलॉजीकल स्टडी ऑफ़ हिज़ लाइफ़ ऐंड वर्क्स*, हार्पर ऐंड रो, न्यूयॉर्क.
3. एफ़. मेहरिंग (1962), *कार्ल मार्क्स : द स्टोरी ऑफ़ हिज़ लाइफ़*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, एन आरबॅर.
4. आर.एन. हंट (1974, 1984), *द पॉलिटिकल आइडियाज़ ऑफ़ मार्क्स ऐंड एंगेल्स*, दो खण्ड, युनिवर्सिटी पिट्सबर्ग प्रेस, पिट्सबर्ग.
5. बोरिस निकोलॉयवस्की और ऑटो मैचन-हैल्फ़ैन (1970), *कार्ल मार्क्स : मैन ऐंड फ़ाइटर*, पेंगुइन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

काशी प्रसाद जायसवाल-1

(हिंदू राज्य-व्यवस्था)

(Kashi Prasad Jaiswal-1)

भारत के राष्ट्रवादी इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937) ने अपनी रचनाओं में भारत के अतीत, उसके इतिहास, उसकी विधि-संहिताओं और राज्य-व्यवस्था का सराहनापूर्ण चित्र उपस्थित किया है। प्राचीन भारत की हिंदू राज्य-व्यवस्था पर लिखा गया उनका इतिहास इस स्थापना का खण्डन है कि भारतीय समाज प्राच्य-निरंकुशता के शिकंजे में जकड़ा हुआ था। *द केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* और *हिस्टोरी दु मॉडर्न जैसी* स्थापित और मानक कृतियों में उद्धृत और संदर्भित होने वाली जायसवाल की कृतियों की दुनिया भर की प्राच्यवादी पत्रिकाओं ने प्रशंसा की है। प्राचीन भारत के अ-राजतांत्रिक राज्य होने की अवधारणा पर *मॉडर्न रिव्यू* (1912-13) में प्रकाशित लेखों में जायसवाल ने साबित किया कि उस समय का भारत न केवल राजनीतिक रूप से विकसित था बल्कि उसमें ऐसे गणराज्यों का अस्तित्व भी था, जो अपना शासन स्वयं चलाते थे। उनके ये विचार 1924 में *हिंदू पॉलिटी* के रूप में प्रकाशित हुए। प्राच्य-निरंकुशता की अभिधारणा को गलत साबित करते हुए उन्होंने दर्शाया कि भारतीय अतीत में न केवल सरकार का एक संवैधानिक स्वरूप था बल्कि सम्पूर्ण संसदीय प्रणाली का अस्तित्व था। बुद्ध के काल में गणराज्यों के होने के प्रमाण विद्वानों को मिल चुके थे, लेकिन जायसवाल ने इन गणराज्यों को अतीत में और पीछे खोजा। बौद्ध संघों में अपनायी जाने वाली लोकतांत्रिक प्रक्रिया से जायसवाल ने निष्कर्ष निकाला कि प्राचीन हिंदू गणराज्यों में प्रस्ताव रखे जाते होंगे, उन पर बहस होती होगी और फिर बहुमत के ज़रिये उन पर फैसला होता होगा। ऐसे गणतांत्रिक राज्यों की शासन प्रणालियों पर प्रकाश डालते हुए जायसवाल ने दिखाया कि उनमें वोटिंग ऑफ़ ग्रांट्स जैसी रीतियाँ भी शामिल थीं।

काशी प्रसाद जायसवाल का जन्म उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में 27 नवम्बर, 1881 को हुआ था। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक करने के उपरांत आगे की शिक्षा के लिए ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी के जीसस कॉलेज गये जहाँ 1909 में उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास में परास्नातक की उपाधि अर्जित की। परास्नातक के दौरान उन्हें डेविस स्कालरशिप इन चाइनीज़ भी मिली। 1910 में वे बैरिस्टर-एट-लॉ रहते हुए लंदन के बार ऑफ़ लिंकंस इन द्वारा बुलाये गये। भारत वापसी के बाद कलकत्ता में उन्होंने वकालत शुरू कर दी। यहीं उनकी भेंट सर आशुतोष मुखर्जी से हुई जिनकी

प्रेरणा से प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन शुरू किया। उन्हें कलकत्ता में ही युनिवर्सिटी में प्राचीन इतिहास के व्याख्याता के तौर पर भी नौकरी मिली। *मॉडर्न रिव्यू* में प्रकाशित अपने कुछ लेखों द्वारा जायसवाल ने जल्द ही मौलिक शोध के क्षेत्र में स्वयं को ख्यातिलब्ध कर लिया। 1916 में जायसवाल पटना आ गये और जीवनपर्यंत वहीं रहे।

काशी प्रसाद जायसवाल का विख्यात ग्रंथ *हिंदू पॉलिटी* मुख्यतः प्राचीन राज्य-व्यवस्था को दो भागों में बाँट कर देखता है : एक भाग वैदिक सभाओं और हिंदू गणराज्यों पर है, और दूसरा भाग राजतंत्र और साम्राज्यवादी व्यवस्था पर है। पहले भाग में जायसवाल अपने विचारों को मूर्त रूप देते हुए उनकी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वैदिक शब्दावली, जैसे समिति, सभा आदि का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के बाद वे गण और संघ के रूप में विद्यमान हिंदू गणराज्य की विस्तार से चर्चा करते हुए कई नयी प्रस्थापनाएँ पेश करते हैं। जायसवाल के अनुसार, 'वैदिक काल में हिंदू समाज कबीलों या गणों में बाँटा हुआ था, और गणों के सदस्य *इटैलिसाइज़* कहलाते थे जिससे वैश्य (यानी जनसाधारण) शब्द निकला है। *विस* की सम्पूर्ण संख्या एक जगह मिल कर बैठक करती थी (समिति में) ताकि उस जन-सभा या समिति के ज़रिये सार्वजनिक मसलों पर चर्चा की जा सके। उस बैठक में सभी विसः उपस्थित माने जाते थे, क्योंकि उस समय प्रतिनिधित्व का नियम लागू नहीं था।' जायसवाल आगे बताते हैं कि समिति से छोटी और अलग तरह की परिषद्, भी थी। इसे सभा कहा जाता था। *अथर्ववेद* के एक गीत में समिति और सभा को दो बहिनों के रूप में दिखाया गया है। जायसवाल ने अनुमान लगाया है कि लोग (अभिजन) सभा में बैठ कर कुछ सार्वजनिक प्रश्नों पर फैसले करते थे।

इस प्रक्रिया में जायसवाल मूलपाठों की सतर्क जाँच करते हुए कई नये राज्यों का नामोल्लेख और काल-निर्धारण के नये पैमाने प्रस्तुत करते हैं। पाणिनि और उनके टीकाकारों की जाँच-पड़ताल द्वारा जायसवाल ने पहचान के नये मानदण्ड खड़े किये, और पूर्वस्थापित शब्दावलियों के अर्थों को पुनर्परिभाषित किया, जैसे काशिका के ग्लौसुकायनाज का ग्लौगनिकायी या एरियन के ग्लौसाई से, मसुकर्निका का मौसिकनोस से, वासिति का ओसाडियोई से और अशोक के पितिनिकास का पाली के पेतिनिकास से। इस कृति में जायसवाल बताते हैं कि कैसे गण और संघ के आंतरिक तत्त्व और प्रक्रिया दोहरे राजत्व को दर्शाती हैं।

हिंदू पॉलिटी के दूसरे भाग में तुलनात्मक रूप से नवीन अध्याय की रचना करते हुए जायसवाल उनमें जनपदीय प्रणाली अथवा क्षेत्रीय सभाओं और पुर अथवा राजधानी क्षेत्र की सभा का वर्णन करते हैं। पुर (अथवा नगर) और जनपद जैसी दो महत्वपूर्ण शब्दावलियों के बहुतेरे उद्धरणों द्वारा

जायसवाल दिखाते हैं कि कैसे दोनों स्थानों के लोग एक दूसरे के साथ व्यवहार करते थे। इस भाग में बताया गया है कि भारतीय राजाओं पर सांविधानिक दबाव उनके तानाशाही रवैये पर एक औपचारिक बंधन था जिसे बाद के एक ग्रंथ *शुक्रनीति-सार* द्वारा मोटा-मोटी अपना लिया गया। इस ग्रंथ में यह दावा भी किया गया है कि बंधन के बजाय भारतीय राज-व्यवस्था में व्याप्त सांस्कृतिक प्रवृत्ति और लोकप्रिय मान्यताओं ने ही शासकों पर अंकुश लगाया। जायसवाल ने संधिविग्रहिक, प्रतिज्ञा और गणतांत्रिक मंत्रिमण्डलों के स्वरूप संबंधी विवरणों के साथ विधिक साक्ष्यों के आधार पर भू-स्वामित्व संबंधी राज्य के अधिकारों का बयान करने वाले परिच्छेदों का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी बताया कि राजत्व का दैवी सिद्धांत और सामाजिक समझौते संबंधी स्थापनाएँ बहुत पहले से भारतीय समाज में व्याप्त रही हैं।

काशी प्रसाद जायसवाल की कुछ संकल्पनाओं की आलोचना करते हुए ए.एल. बाशम ने कहा है कि उन्होंने *हिंदू पॉलिटी* में अपने निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए और अपनी अभिधारणा की सिद्धि के लिए विशाल परिमाण में स्रोतों का प्रयोग किसी बैरिस्टर की भाँति करते हुए एक अनुकूल न्यायिक फ़ैसला पाने का प्रयत्न किया है। अपने विरुद्ध सभी साक्ष्यों को दरकिनार करते हुए उन्होंने हर ऐसे अनुच्छेद पर बल दिया जो उनके मामले को मज़बूत बनाता हो और सर्वाधिक सकारात्मक आलोक में उसकी व्याख्या करता हो।

जायसवाल पर एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि उन्होंने मध्य-एशियाई तथा कुछ अन्य क़बीलों का भारतीय जीवन का अविभाज्य अंग हो जाने और भारत से सम्पत्ति लूटकर अपने मूल देश न ले जाने की हक़ीक़त को नज़रअंदाज़ किया। इसी तरह उन पर शकों और कुषाणों के शासन से मुक्त कराने में भारतीय राजवंशों की भूमिका बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने का आरोप भी लगाया जाता है। जायसवाल पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि उन्होंने प्राचीन संस्थाओं पर आधुनिक राष्ट्रीय भावना की कलाई चढ़ा दी है। दूसरी ओर प्राचीन भारत में उत्तरदायी सरकार का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए जायसवाल ने अभिलेखों और साहित्यिक पाठों में उल्लिखित शब्दों और अनुच्छेदों को नयी व्याख्याओं के साँचे में ढाला। इस प्रकार उन्होंने गणतंत्रिय प्रशासन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उस पर यू.एन. घोषाल सहित बहुत से लेखकों ने आपत्ति की है। दिलचस्प बात यह है कि इन आलोचनाओं के बावजूद प्राचीन भारत में गणतांत्रिक प्रयोग की प्रथा के बारे जायसवाल की मूल धारणा व्यापक रूप से मान ली गयी। इस तरह उनकी अग्रणी कृति *हिंदू पॉलिटी* को क्लासिक का दर्जा मिल गया।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्थर लेवेलिन बाशम, बिपन चंद्र-

1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े।

संदर्भ

1. काशी प्रसाद जायसवाल (1955), *हिंदू राज्य-व्यवस्था*, अनु. रामचंद्र वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. के.पी. जायसवाल (1930), *मनु ऐंड याज्ञवल्क्य, अ कम्पेरिज़न ऐंड अ कंट्रास्ट : अ ट्रीटाइज़ ऑन द बेसिक हिंदू लॉ*, बटरवर्थ ऐंड कम्पनी लिमिटेड. कलकत्ता
3. राम शरण शर्मा (2005), *इण्डियाज़ एंशियंट पास्ट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. एल.डी. बर्नेट (1926), 'द राजनीति-रत्नाकर बाई चण्डेश्वर बाई काशी प्रसाद जायसवाल', *जर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सासाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड*, अंक 4 (अक्टूबर).
5. ए. बेरिडेल कीथ (1925), 'हिंदू कांस्टीट्यूशनल लॉ', *जर्नल ऑफ़ कम्पेरिटिव लेजिसलेशन ऐंड इंटरनेशनल लॉ*, थर्ड सीरीज़, खण्ड 7, अंक 4.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

काशी प्रसाद जायसवाल-2

(मनु और याज्ञवल्क्य की विधि-संहिताएँ)

(Kashi Prasad Jaiswal-2)

अपनी रचना *मनु ऐंड याज्ञवल्क्य, अ कम्पेरिज़न ऐंड अ कंट्रास्ट : अ ट्रीटाइज़ ऑन द बेसिक हिंदू लॉ* (1930) में काशी प्रसाद जायसवाल ने विश्लेषण करके बताया कि मनु आधारित सिद्धांत रिवाज़मूलक थे जो ब्राह्मणवाद के प्रभाव से व्यवस्थागत पवित्र नियमों में बदल गये। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* का काल-निर्धारण करते हुए जायसवाल ने इसे मनु के काल से भी पहले का अर्थात् ईसापूर्व 300 का माना। जायसवाल ने मनु और याज्ञवल्क्य के विधि-संग्रह को कौटिल्य की संहिता का ही परिष्कृत और ब्राह्मणवादी रूप करार दिया। वे मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद आये ब्राह्मणवादी विजय के काल में मनु और याज्ञवल्क्य की कृतियों की रचना को इसका आधार मानते हैं। *अर्थशास्त्र* को चंद्रगुप्त के महामंत्री कौटिल्य की रचना मानते हुए जायसवाल इसका काल ईसापूर्व 300 से बाद का नहीं मानते।

जायसवाल ने नंद, मौर्य और शुंग काल-क्रम पर अभिलेखीय उद्धरणों की पठनीयता और स्थान-नामों की

प्राप्ति में दुरुहता के बावजूद कई पर्चों का प्रकाशन कराया साथ ही अकादमिक स्तर पर कम विवादित अभिलेखों का सराहनीय सम्पादन करते हुए उन्हें बिहार ऐंड ओडीशा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल और *एपिग्राफिका इण्डिका* में प्रकाशित कराया। सामान्य धारा की रचनाओं में उन्होंने *स्मृति* (1924) और चण्डेश्वर के *राजनीति-रत्नाकर* का सम्पादन किया। उन्होंने अनंत प्रसाद शास्त्री के साथ मिल कर दो महत्वपूर्ण भागों में विभाजित *अ डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ (संस्कृत) मैनुस्क्रिप्ट इन मिथिला* का संकलन किया। साथ ही जायसवाल ने *गंगा-संहिता* पर अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक टीका *युग-पुराण* का सम्पादन भी किया।

1300-25 के दौरान मूलतः संस्कृत में लिखी गयी चण्डेश्वर की कृति *राजनीति-रत्नाकर* का विषय राजनीति था। चण्डेश्वर ठाकुर ने नागरिक और धार्मिक विधि की कई शाखाओं में रचना की। अपेक्षाकृत काफी बाद में अर्थात् चौदहवीं शताब्दी में लिखे गये इस ग्रंथ के काल तक इस संबंध में मौलिकता की बहुत गुंजाइश नहीं रह गयी थी, फिर भी जायसवाल ने इस कृति में उद्धृत पूर्ववर्ती लेखकों के उद्धरणों की ओर इंगित करते हुए इसे हिंदू और मुसलिम युग की संक्रमण कालावधि दर्शाने वाली एक महत्वपूर्ण कृति माना है। सोलह तरंगों अर्थात् अध्यायों में बँटी यह कृति क्रमशः राजा, मंत्री, राज प्रासाद, प्रद्विवेक या मुख्य-न्यायाधीश, न्यायाधीश, दुर्ग, मंत्रणा-परिषद्, कोष, सैन्य शक्ति, सेना, दूत-गुप्तचर-मित्र, राजा के कर्तव्य, दण्ड, राजा द्वारा राज्य का हस्तांतरण, मृत्यु उपरांत प्रतिनिधि शासन और राज्याभिषेक का विवेचन प्रस्तुत करती है।

बौद्ध तांत्रिक ग्रंथ मंजुश्री-मूलकल्प में प्रायः आद्यक्षरित रूप से अंकित राजाओं और राजवंशों के अस्पष्ट नामों की पहचान करके काल-क्रमानुक्रम अनुसार व्यवस्थित करते हुए जायसवाल ने 1934 में *ऐन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया इन अ संस्कृत टेक्स्ट (सी. 700 बीसी सी. एडी 770)* की रचना की। इस में उनकी मदद करने वाले थे राहुल सांकृत्यायन जिन्होंने संस्कृत पाठों को शुद्ध करने के लिए तिब्बती पाठ मुहैया कराये। तिब्बत की यात्रा करते हुए जायसवाल ने अपने मित्र सांकृत्यायन और उनके उत्साही प्रयास से संस्कृत पांडुलिपियाँ प्राप्त कीं। जीवन के अंतिम वर्षों में स्वयं जायसवाल ने नेपाल की यात्रा की और 1936 में एक लम्बे लेख द्वारा (जो बाद में अलग से विस्तृत रूप से प्रकाशित हुआ) भारत का कालक्रम दर्शाते हुए उन्होंने *क्रॉम*

600 बीसी टू एडी 880 की रचना की।

हिंदू पॉलिटी के अतिरिक्त जायसवाल के सुपरिष्कृत और विशिष्ट अवदानों में प्रमुख हैं 'डिवेलपमेंट ऑफ लॉ इन मनु ऐंड याज्ञवल्क्य' विषय पर आधारित टैगोर लॉ लेक्चर्स के तहत दिये गये व्याख्यानों का संकलित संस्करण और *द हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, एडी 150 टू एडी 350* (1933)। एक ओर जहाँ *हिंदू पॉलिटी* और टैगोर लेक्चर्स के संकलन विद्वानों की आलोचना का केंद्र बने वहीं दूसरी ओर *द हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* मुद्राशास्त्रियों के आरोपों का शिकार बना। परंतु जायसवाल ने अस्पष्ट कालावधि और अन्य समस्याओं के बावजूद प्राप्त तथ्यों को चिह्नित किया। *हिंदू पॉलिटी* में जहाँ उन्होंने मनु के नियमों की प्रस्थापना, सर्जना और रचना-काल दर्ज किया है वहीं *द हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* में खुद प्राप्त किये गये पुरातात्विक साक्ष्यों की मदद से नाग और वाकाटक राजवंशों के इतिहास पर प्रकाश डाला है। इस प्रक्रिया में उन्होंने दोनों राजवंशों के इतिहास को नवीन आँकड़ों से संशोधित किया।



काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937)

ऐतिहासिक शोध, पुरातात्विक उत्खनन, अन्वेषण तथा विद्वत्तापूर्ण कार्यों के प्रकाशन की आवश्यकता ध्यान में रख कर बिहार सरकार ने 1950 में पटना में के.पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की। इसके संस्थापक निदेशक थे ए.एस. अल्लेकर और उप-निदेशक थे डॉ. लक्ष्मण झा जो बाद में मिथिला विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। संस्थान से प्रसिद्ध तिब्बती-संस्कृत मूलपाठों का सम्पादन और प्रकाशन भी हुआ। 1999 से 2010 तक इस संस्थान ने समस्तीपुर जिले में दलसिंहसराय के समीप पारा-डीह (पांडव स्थान अथवा पांडा) स्थान की खुदाई की, जहाँ से ईसापूर्व 500 से 600 ईस्वी सन् तक की कालावधि के पक्की ईंटों से बनी बस्तियों की लगातार शृंखला मिली। लखनऊ स्थित बीरबल साहनी इंस्टीट्यूट ऑफ पैलियोलॉजी द्वारा की गयी रेडियो कार्बन डेटिंग से इसके काल-क्रम की पुष्टि हुयी है। यहाँ से टेराकोटा आकृतियाँ, कार्नेलियन और गोमेद जैसे रत्न-पत्थर, और पूर्ववर्ती ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ एक अभिलेख भी प्राप्त हुआ है। विभिन्न क्षेत्रों में ऐतिहासिक शोध को बढ़ावा देने हेतु इस संस्थान में विद्वानों की नियुक्ति होती रही है। 1952 में बिहार सरकार की तरफ से नियुक्त मैथिल लेखक पण्डित बलदेव मिश्र ज्योतिषाचार्य ने बिहार में पाये गये पाली और प्राकृत भाषा में लिखित अभिलेखों को पढ़ कर उसके गूढ़ अर्थों को स्पष्ट किया।

तत्कालीन गवर्नर एडवर्ड गेट द्वारा संस्थापित बिहार ऐंड ओडीशा रिसर्च सोसाइटी में जायसवाल ने शिरकत करते हुए उसकी प्रथम परिषद् की सदस्यता ग्रहण की। 1921 में शुरू हुई इस सोसाइटी की पत्रिका का जायसवाल ने आजीवन सम्पादन किया। सोसाइटी की गतिविधियों और अपनी व्यावसायिक जिम्मेदारियों के बावजूद जायसवाल मौलिक लेखन में लगातार जुटे रहे। पुरातात्विक उत्खनन में अपनी रुचि के कारण उन्होंने पटना का पुरातात्विक उत्खनन स्वयं संचालित किया और उल्लेखनीय पुरातात्विक सामग्रियाँ प्राप्त कीं जो आज भी पटना संग्रहालय में संरक्षित हैं। पटना संग्रहालय के लिए राखालदास बनर्जी के साथ संयुक्त रूप से कार्य करते हुए जायसवाल को ओडीशा में खण्डगिरी के हाथीगुम्फा अभिलेख का एक साँचा प्राप्त हुआ। इस अभिलेख का अनुवाद और टीका सहित एक संयुक्त संस्करण सबसे पहले बिहार ऐंड ओडीशा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में और बाद में कुछ उल्लेखनीय संशोधनों और व्याख्या के साथ *एपिग्रफ़िका इण्डिका* में प्रकाशित हुआ। 1917 में जायसवाल का कलकत्ता में टैगोर लॉ लेक्चर्स के लिए चयन हुआ। 1930 में जब आल-इण्डिया ओरिएंटल कांफ्रेंस का पटना में आयोजन हुआ, तो वे स्वागत समिति के सभापति बनाये गये। वहाँ उद्घाटन भाषण के दौरान उन्होंने सूचनाओं और तथ्यों से भरपूर अपनी प्रगल्भ उपस्थिति दर्ज की। 1933 में बड़ौदा में हुए आल-इण्डिया ओरिएंटल कांफ्रेंस के वे अध्यक्ष चुने गये। एक विद्वान की हैसियत से जायसवाल ने 11 किताबें, 120 से ज़्यादा रिसर्च पेपर्स और बहुतेरे अनुवाद और टीकाएँ लिखीं। आधुनिक बिहार में हुए प्राचीन स्थानों यथा नालंदा विश्वविद्यालय की खुदाई और उसकी पुनर्स्थापना संबंधी कार्रवाइयों में अगुआ रहे जायसवाल मुद्राशास्त्र के भी विशेषज्ञ थे। पटना उत्खनन के दौरान प्राप्त मौर्य और गुप्तकालीन सिक्कों की खोज ने उन्हें ऐसे पहले भारतीय होने का गौरव दिलाया जिसे 1935 में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन की तरफ से भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया। जायसवाल दो बार न्युमिसमेटिक सोसाइटी ऑफ़ इण्डिया के अध्यक्ष रहे। 1935 में ही बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और पटना विश्वविद्यालय ने काशी प्रसाद जायसवाल को ऑनरेरी डॉक्टरेट से सम्मानित किया गया। 4 अगस्त, 1937 को पटना में उनका निधन हुआ।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्थर लेवेलिन बाशम, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डाकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2.

संदर्भ

1. काशी प्रसाद जायसवाल (1955), *हिंदू राज्य-व्यवस्था*, अनु. रामचंद्र वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. के.पी. जायसवाल (1930), *मनु ऐंड याज्ञवल्क्य, अ कम्पेरिज़न ऐंड अ कंट्रास्ट : अ ट्रीटाइज़ ऑन द बेसिक हिंदू लॉ*, बटरवर्थ ऐंड कम्पनी लिमिटेड. कलकत्ता
3. राम शरण शर्मा (2005), *इण्डियाज़ ऐंशिऐंट पास्ट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. एल.डी. बर्नेट (1926), 'दि राजनीति-रत्नाकर बाई चण्डेश्वर बाई काशी प्रसाद जायसवाल', *जर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैण्ड*, अंक 4 (अक्टूबर).
5. ए. बेरिडेल कीथ (1925), 'हिंदू कांस्टीट्यूशनल लॉ', *जर्नल ऑफ़ कम्पेरिटिव लेजिसलेशन ऐंड इंटर नेशनल लॉ*, थर्ड सीरीज़, खण्ड 7, अंक 4.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

क्लाँद लेवी-स्ट्राँस

(Claud Levi-Strauss)

विख्यात सांस्कृतिक मानवशास्त्री क्लाँद लेवी-स्ट्राँस (1908-2010) ने संरचनावाद के सैद्धांतिक विकास को गहराई से प्रभावित किया है। इसके लिए उन्होंने फ़र्दिनैंद द सॅस्यूर के भाषा संबंधी चिंतन तथा रोमन याकोबसन द्वारा प्रतिपादित संस्कृति के विविध पक्षों से संबंधित विचारों का उपयोग किया है। इस सिलसिले में लेवी-स्ट्राँस का मुख्य जोर नातेदारी, मिथ व कला के प्रभावों पर है। उनके लेखन में निरंतर सिद्ध किया गया है कि मानव जाति के बारे में देशज समुदायों का अध्ययन हमें गहन अंतर्दृष्टियों से सम्पन्न कर सकता है। उन्होंने नातेदारी की संरचना पर व्यापक अनुसंधान किया और अपने निष्कर्षों के माध्यम से समाज की बनावट के मूल तत्त्वों और नियमों का सूत्रीकरण करने की चेष्टा की। 1949 में प्रकाशित उनकी पुस्तक *द एलीमेंटरी स्ट्रक्चर ऑफ़ किनशिप* मानवशास्त्र की एक क्लासिकल कृति गिनी जाती है।

लेवी-स्ट्राँस एमील दुर्खाइम और मार्सेल मौज़ के समाजशास्त्र से भी प्रभावित थे। मौज़ की मशहूर रचना *गिफ़्ट* (1925) से उन्होंने तर्क लिया कि उपहारों का आदान-प्रदान प्रायः सभी आदिम समाजों व संस्कृतियों में पाया जाता था। इससे समाज में व्यवहार व अंतःसंबंधों का रूप निर्धारित होता था। यह प्रक्रिया बाज़ार-व्यवस्था से मुक्त थी। उपहारों के आदान-प्रदान का संबंधों के क्रानूनी, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक पक्षों पर असर पड़ता था। इसी कड़ी में लेवी-स्ट्राँस ने स्वयं भी दक्षिणी फ्रांस में शराब की छोटी बोटलों के पास-

पड़ोस में लेन-देन की परम्परा को उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया। इस तरह का विनिमय सामाजिक सम्पर्क पुष्ट करने की प्रथा के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। यानी इस प्रतिपादन के अनुसार समाज सर्वप्रथम विनिमय का एक तंत्र है। अपनी किताब *स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलॉजी* में उन्होंने कहा कि व्यक्ति सम्पत्ति, वस्तु, भाषा और स्त्री आदि का परस्पर विनिमय करते हैं। समाज की नातेदारी-प्रणाली मुख्यतः स्त्रियों के विनिमय पर ही टिकी होती है और इसी संदर्भ में उन्होंने क्रास कज़िन मैरिज (ममेरे और फुफेरे भाइयों के बीच विवाह) का भी अध्ययन किया।

लेवी-स्त्रॉस के निष्कर्षों पर रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के सिद्धांत की भी स्पष्ट छाप दिखती है। आदिम समाज को वे मानव जाति के सबसे शुद्ध व आदर्श रूप की तरह देखते हैं। उन्होंने रूसो को मानवशास्त्र के सबसे बड़े प्रेरणा स्रोत के रूप में देख कर उन्हें मनुष्य के विज्ञानों का अन्वेषक बताया है। पर लेवी-स्त्रॉस का एक मूल अंतर्विरोध यह है कि एक ओर वे आदिम मनुष्य को वर्तमान मानव समाज के समान बताते हैं तो दूसरी ओर उसे भिन्न भी करार देते हैं। सॅस्यूर के भाषा चिंतन से प्रेरित होने के कारण वे मानते हैं कि व्यवस्था में जारी परिवर्तन व उसमें सक्रिय लोगों का खास महत्त्व नहीं होता है। वे सामाजिक जीवन को ऐसी व्यवस्था के रूप में देखते हैं जो संबंधों के समुच्चय से बनती है और उसमें व्यक्ति की भूमिका गौण रहती है। गौरतलब है कि सॅस्यूर का भाषा-चिंतन भी यही कहता था कि भाषा के दो घटक होते हैं। लांगे (भाषा लिखित रूप) और परोल (बोली गयी भाषा)। इसमें लांगे का रूप सामाजिक होता है, जबकि परोल वैयक्तिक है। भाषाशास्त्र को वैज्ञानिक बनाने के दावा करते हुए सॅस्यूर ने अध्ययन के भाषा के सामाजिक पक्ष यानी लांगे पर जोर देने के लिए कहा था।

सॅस्यूर की तरह ही लेवी-स्त्रॉस भी समाज के वैयक्तिक पक्षों से पूरी तरह अलग हो कर नातेदारी व सामाजिक नियमों से बने उसके संरचनात्मक पक्ष के अध्ययन पर बल देने लगे। समाज के इस संरचनात्मक विश्लेषण में सामाजिक रूपांतरण, परिवर्तन या सामाजिक द्वंद्व को अध्ययन का विषय नहीं माना जाता है। इसीलिए प्राचीन आदिम समाज, जिसे लेवी-स्त्रॉस ने कोल्ड सोसाइटीज़ के रूप में सम्बोधित किया है, में भी किसी प्रकार के द्वंद्व या अव्यवस्था की गुंजाइश नहीं दखी जा सकती थी। लेवी-स्त्रॉस के लिए वह सामाजिक नियमों व विनिमय पर आधारित व्यवस्था के आदर्श रूप को व्यक्त करती थी। उनकी खास दिलचस्पी पुरानी चीजों के संग्रह जैसे पुराने मास्क, प्रतिलिपियों, अजायबघरों आदि में भी थी। इन चीजों के माध्यम से लेवी-स्त्रॉस को जीवित विश्वासों, भावनाओं तथा द्वंद्वों के स्थान पर संरचना के विश्लेषण में खास सुविधा होती थी।



क्लाद लेवी-स्त्रॉस (1908-2010)

ज़ाहिर है कि ठोस चीजों में लेवी-स्त्रॉस की दिलचस्पी मूलतः अमूर्त विश्वासों व धारणाओं का पता लगाने तथा उनकी रचना करने के लिए थी। यानी लेवी-स्त्रॉस अगर ठोस व मूर्त को पसंद करते हैं तो केवल इस वजह से कि वह उसमें छिपे अमूर्त का पता लगाने का माध्यम है। यहाँ तक कि मार्क्सवाद, जिसकी प्रेरणा उनके लेखन में देखी जाती है, भी उनके लिए केवल एक विचार-पद्धति के रूप में अहमियत रखता है। अपने इसी रवैये के तहत अमेरिका प्रवास के बाद फ्रांस वापस आने पर उन्होंने किसी भी तरह के उग्र प्रतिरोध या आंदोलन का समर्थन करने की अनिच्छा जतायी और 1968 के विख्यात छात्र-युवा आंदोलन का भी विरोध किया।

उन्होंने अपने मानवशास्त्र को मैलिनॉस्की द्वारा लोकप्रिय बनाये गये भागीदारीमूलक प्रेक्षण से मुक्त रखा और कहा कि इस प्रकार के अनुभववाद से केवल ऊपरी तथ्यों व आचार-विचार को ही जाना जा सकता है। उनका दावा था कि वास्तविक सत्य संरचनाओं के भीतर निहित होता है। उन्होंने इस बात का भी खण्डन किया कि देशज लोगों से बात कर उनकी संस्कृति की मूल प्रेरणा का पता लगाना मुश्किल होता है और वास्तविकता संरचनाओं में अंतर्निहित होती है।

लेवी-स्त्रॉस के लेखन में आधुनिकता का एक क्रिस्म का रोमांटिक खण्डन भी उपस्थित है। अफ्रीका और एशिया के तीसरी दुनिया के देशों में फैलते सांस्कृतिक प्रदूषण से वे चिंतित दिखते हैं। अपनी पुस्तक *ट्रिस्टस ट्रॉपिक्स* में वे लिखते हैं, 'दुनिया घूमने पर हमें प्रतीत होता है कि हमारा सारा

कूड़ा-करकट मानव सभ्यता के चेहरे पर फेंक दिया गया है। रियो द जनेरो, साओ पाओ और कलकत्ता जैसे शहरों की अराजकता व गंदगी ने उन्हें विचलित कर दिया था। भयावह इतिहास और अराजक वर्तमान की मौजूदगी में सांस्कृतिक नृजातिवाद ही उनके लिए विलुप्त होने के कगार पर खड़ी संस्कृतियों को जानने-समझने का आखिरी उपाय था।

प्राचीन आदिम समाजों के प्रति लेवी-स्त्रॉस का सराहना भाव इसी से प्रेरित है। पर लेवी-स्त्रॉस के आलोचकों ने आधुनिकता से संबंधित उनकी प्रदूषण की चिंता को एकतरफा बताया है। वे पश्चिमी सभ्यताओं की प्रगति व आधुनिकता की आलोचना न करके प्राचीन समाजों के विनाश पर अफसोस प्रकट करते हैं। वे अपनी संस्कृति के भीतर मौजूद प्रगति के विचार या जीवनशैली को प्रशंसाकित नहीं करते और उसे केवल दूसरे समाजों पर आरोपित करने पर आपत्ति करते हैं। लेवी-स्त्रॉस ने प्राचीन आदिम समाजों के अध्ययन के आधार पर मिथकों का भी अध्ययन किया है जो कि उनकी चार खण्डों में प्रकाशित रचना *इंट्रोडक्शन टू साइंस ऑफ़ माइथोलॉजी* के रूप में प्रकाशित हुआ। उन्होंने अमेरिकन इण्डियन कबीलों के मिथक संबंधी विश्वासों का विस्तार से परिचय दिया है। उन्होंने मिथक की अध्ययन प्रक्रिया में उन्हें मनुष्यों तथा अपने जन्म की स्थितियों से स्वतंत्र मानते हुए एक वस्तु के रूप में देखा है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है। लेवी-स्त्रॉस की निगाह में मिथक उन लोगों से नहीं बँधे होते जो उनसे अपना संबंध महसूस करते हैं।

लेवी-स्त्रॉस ने अपने निष्कर्षों में यह भी बताया है कि मिथक की कई व्याख्याएँ होती हैं पर वे एक ही प्रणाली से जुड़ी होती हैं। इस अर्थ में मिथक अपनी प्रकृति में कविताओं से भिन्न होते हैं। कविताएँ मामूली परिवर्तन को भी नहीं सहन करतीं जबकि मिथक एक से दूसरे आख्यान तक और एक से दूसरी पीढ़ी तक आते-आते बदल जाते हैं। पर उन मिथकों का विश्लेषण सिद्ध करता है कि उनकी मूल संरचना अपने अनगिनत रूपों के बावजूद समान बनी रहती है।

संरचनावाद के अनुसार मानव मस्तिष्क परस्पर विलोमार्थक युग्मों में सोचता है। जैसे ऊँचा-नीचा, खाद्य-अखाद्य, काला-गोरा, कच्चा-पक्का, संस्कृति-प्रकृति आदि। लेवी-स्त्रॉस के मुताबिक किसी विश्लेषक का काम यही दिखाना है कि किस प्रकार परस्पर विरोधी चीजें किसी व्यवस्था का निर्माण करती हैं और व्यवस्था के भीतर से ही अर्थवान बनती हैं। लेवी-स्त्रॉस के बारे में माना जाता है कि वे एक सांस्कृतिक मानवशास्त्री से अधिक दार्शनिक तथा कलाकार थे जिन्होंने केवल अपने पाठकों को सोचने के लिए ही नहीं बल्कि स्वयं देखने के लिए भी प्रेरित किया। खुद उनके अपने विवरण के अनुसार उनका अपना लेखन भी एक कलात्मक ढाँचा है। उनका कहना था कि मानवशास्त्र केवल तथ्यों और सूचनाओं

का संकलन भर नहीं है। उन्होंने अनुमानपरक सामान्यीकरण पर उन्होंने अपने सिद्धांतों की इमारत खड़ी की।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लिफर्ड गीर्टज़, जॉर्ज जिमेल, टैलकॉट पार्सस, पिएर बोर्दियो, फ्रंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद।

संदर्भ

1. राबर्ट डिलेज़ (2004), *लेवी-स्त्रॉस टुडे, एन इंट्रोडक्शन टू स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलॉजी*, बर्ग, ऑक्सफ़र्ड और न्यूयॉर्क.
2. सी. बेडकाक (1975), *लेवी-स्त्रॉस, स्ट्रक्चरलिज़म एंड सोसियोलॉजिकल थियरी*, हचिंसन, लंदन.
3. ई. लीच (1970), *लेवी-स्त्रॉस, फ़ोंटाना*, लंदन.
4. ई. लीच (1967), *द स्ट्रक्चरल स्टडी ऑफ़ मिथ एंड टोटमिज़म, टेवीस्टाक*, लंदन.
5. एफ़ लेप्वांटे एंड सी लेप्वांटे (1991), *क्लॉद लेवी-स्त्रॉस एंड हिज़ क्रिटीक : एन इंटर्नैशनल बायोग्राफी (1950-1976)*, गारलैण्ड, न्यूयॉर्क.

— वैभव सिंह

कांग्रेस 'प्रणाली'

(Congress System)

भारत की दलीय प्रणाली को कांग्रेस 'प्रणाली' के रूप में व्याख्यायित करने का श्रेय रजनी कोठारी को जाता है। साठ के दशक में किये गये अपने एक क्लासिक अध्ययन में कोठारी ने दिखाया है कि भारत की दलीय प्रणाली पश्चिमी अर्थों के अनुसार एक-दलीय, द्वि-दलीय या बहु-दलीय न हो कर एक पार्टी के वर्चस्व की प्रणाली रही है। आज़ादी के बाद दलीय व्यवस्था पर वर्चस्व कायम करने की भूमिका चूँकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने निभायी, इसलिए कोठारी ने इसे कांग्रेस 'प्रणाली' का नाम दिया। आज कांग्रेस का वर्चस्व गठजोड़ राजनीति के कारण टूट चुका है। लेकिन आज भी मॉडल के रूप में वही प्रणाली काम कर रही है। कोठारी के अनुसार भारतीय संस्कृति की मूल प्रवृत्तियों के साथ एकाकार होते हुए कमज़ोर विपक्ष के बावजूद आम सहमति और पंच फ़ैसलों के ज़रिये लोकतांत्रिक चरित्र ग्रहण करना ही कांग्रेस 'प्रणाली' की सबसे बड़ी विशेषता है।

यह सूत्रीकरण करने से पहले कोठारी इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि मैक्स वेबर द्वारा बताये गये वे तीन चरण भारत पर लागू नहीं होते जिनके मुताबिक पहले दौर में

सामंती गुटों के जरिये पार्टी का विकास होता है, फिर संगठन गणमान्य और कुलीन लोगों के हाथ में जाता है और अंत में वह व्यापक जनता की पार्टी बनती है। भारत में पार्टी का शुरू से ही सचेत रूप से गठन किया गया और फिर दूसरे चरण में उसे जन-आधारित बनाया गया। स्वाधीनता मिलने से पहले कांग्रेस एक सुगठित पार्टी बन चुकी थी और उसके नेताओं ने सभी स्तरों पर नेतृत्व संभाल लिया था। कांग्रेस की खास बात यह भी थी कि उसकी अधिकारिक दिशा से मतभेद रखने वाले लोग पार्टी के भीतर ही अपने विचारों के लिए समर्थन जुटाने की कोशिश करते थे। पार्टी से बाहर जाने पर उनका राजनीतिक महत्त्व खत्म हो जाता था। ये हालात आजादी के बाद भी क्रायम रहे। कांग्रेस को कई बार तोड़ने की कोशिश हुई। कुछ बड़े नेता भी पार्टी छोड़ कर गये, पर ज्यादा समर्थन न मिलने के कारण प्रभावी भूमिका नहीं निभा पाये।

कांग्रेस 'प्रणाली' अपने-आप में एक जटिल अवधारणा है। एक पार्टी के वर्चस्व का मतलब एकल-पार्टी प्रणाली नहीं है। इसका अर्थ है कि एक स्पर्धात्मक दलीय प्रणाली जिसमें आपस में होड़ कर रही पार्टियाँ असमान भूमिका निभाती हैं। इसका एक हिस्सा 'आमसहमति की पार्टी' से मिल कर बनता है और दूसरा 'दबाव की पार्टियों' से मिल कर। इस तरह इस बंदोबस्त में एक दबाव का हाशिया काम करता रहता है जिसके दायरे के भीतर और बाहर की गतिविधियों की समझ महत्त्वपूर्ण है। दायरे के भीतर आमसहमति वाली पार्टी के असंतुष्ट गुट और धड़े कार्यरत रहते हैं। उसके बाहर विपक्षी जमावड़े, पार्टियाँ, सत्तारूढ़ पार्टी के नाराज तत्त्व, दूसरे हित-समूह और अहम शख्सियतों की मौजूदगी रहती है। खास बात यह है कि हाशिए के बाहर के ये तत्त्व सत्तारूढ़ पार्टी पर दबाव डालते हैं, उसकी निंदा-आलोचना करते हैं पर उसका विकल्प तैयार नहीं कर पाते। सत्तारूढ़ दल आशंकित बना रहता है कि अगर जनता की प्रचलित राय या पसंद और उसके बीच फ़ासला बढ़ गया तो विपक्ष उसे सत्ता से हटा देगा। इसलिए आमसहमति की पार्टी के तौर पर उसे जनता की माँगों और दबावों के प्रति संवेदनशील रहना पड़ता है। दरअसल, इस पूरी प्रणाली की संवेदनशीलता दबाव के हाशिए की संवेदनशीलता और उसके लचीलेपन पर निर्भर करती है। यह इस बात पर भी निर्भर करती है कि विभिन्न धड़ों, असंतुष्ट गुटों और विपक्षी दलों को सक्रियता के लिए सत्तारूढ़ पार्टी कितनी गुंजाइश देती है। इस बंदोबस्त में आमसहमति की व्यवस्था का केंद्रीय महत्त्व है। उपनिवेशवादी आंदोलन के दौरान समाज के सभी तबकों और हितों को अपने दायरे में लेकर कांग्रेस इस 'ऐतिहासिक आमसहमति' से लैस हुई थी। इसलिए आजादी के बाद ज्यादातर समय तक आमसहमति की पार्टी की भूमिका अधिकतर कांग्रेस के हाथ में ही रही है। नब्बे के दशक के

मध्य में गठजोड़ राजनीति के जरिये कुछ आगे निकल कर भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने उससे यह भूमिका छीनने की विफल कोशिश जरूर की थी।

कांग्रेस अपने वर्चस्व के ज़माने में दो स्तरों पर काम करती रही है। अपने भीतर वह ज्यादा प्रतिनिधित्वमूलक, लचीली और आंतरिक होड़ के अनुकूल रहती थी। दूसरी तरफ़ वह अपने से बाहर मौजूद गुटों और आंदोलनों को अपने आगोश में लेने के लिए तैयार रहती थी ताकि दूसरी पार्टियों की ताकत न बढ़ पाये। इससे होता यह था कि पहले पार्टी के भीतर शक्ति केंद्रित होती चली जाती थी और फिर उस शक्ति के प्रयोग को सीमित करने के लिए आंतरिक उपायों की रचना होती थी। विपक्ष की अपनी ताकत तभी बढ़ती थी जब कांग्रेस के भीतर की गुटबाज़ी के संतुलन पर उसकी पकड़ कमजोर हो जाए।

कोठारी मानते हैं कि इस परिस्थिति के कुछ संरचनागत परिणाम होते थे। चुनाव के लिहाज़ से विपक्ष केवल स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर ही अच्छा प्रदर्शन कर पाता था। राष्ट्रीय आंदोलन के नेता विपक्ष को उसकी औकात से ज्यादा महत्त्व देना नहीं भूलते थे ताकि सत्ता में आने के नाममात्र के मौकों के बावजूद उसका मनोबल और उत्साह बना रहे। विपक्षी नेताओं को कांग्रेस का सत्तारूढ़ गुट निजी स्तर पर काफ़ी महत्त्व देता था जिनसे उनकी कुंठा और कड़वाहट एक तरफ़ तो अवांछित रूप ग्रहण नहीं कर पाती थी, दूसरी ओर उनके और उनके कार्यकर्ताओं के बीच अंतराल पैदा हो जाता था। भारतीय दलीय प्रणाली में विपक्ष अभी तक आमसहमति के कांग्रेस जैसे दूसरे दल की रचना नहीं कर पाया है। राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस का विकल्प देखने की इच्छा रखने वाले प्रेक्षकों के एक बड़े हिस्से को भारतीय जनता पार्टी से उम्मीद है कि वह ऐसी ही पार्टी के रूप में उभरेगी। लेकिन यह देख कर उन्हें निराशा होती है कि भाजपा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रदत्त वैचारिक निष्ठाओं और संसदीय राजनीति की व्यावहारिकताओं के बीच अंतर्विरोधों को सुलझाने में नाकाम रही है।

निश्चित रूप से कांग्रेस ने आजादी की लड़ाई का जो आंदोलन चलाया वह अपने चरित्र और गहराई में बेमिसाल था। पर कांग्रेस 'प्रणाली' की निरंतरता तभी क्रायम रखी जा सकती थी, जब कांग्रेस आजादी के बाद भी अपने सुदृढ़ीकरण का सिलसिला क्रायम रखती। कोठारी इस मान्यता से सहमत नहीं हैं कि कांग्रेस आजादी मिलने से पहले एक आंदोलन थी, पर बाद में पार्टी में बदल गयी। वे कहते हैं कि कांग्रेस आजादी के बाद भी आंदोलन ही बनी रही। उसने राष्ट्र-निर्माण के माध्यम से आधुनिकीकरण करने की जो शैली अपनायी उसने भी दलीय प्रणाली के कुछ तत्त्वों की रचना की। इस लिहाज़ से कई विकासशील कम्युनिस्ट और

गैर-कम्युनिस्ट देशों की सरकारी और आंदोलनात्मक पार्टियों से मिलती-जुलती होने के बावजूद इस प्रणाली ने खुद को अधिनायकवादी रुझानों से दूर रखा। सरकार और सत्तारूढ़ दल के प्रतीकात्मक महत्त्व को काफ़ी बढ़ा कर प्रतीक और यथार्थ के बीच पर्यायवाची संबंध बना दिया। कांग्रेस ने टकराव और असंतोष के कुछ अत्यंत सम्भावित स्रोतों को बेअसर करने की नीतियाँ और हथकण्डे अख़्तियार किये : जैसे, भूमि सुधारों के ज़रिये सामंतवाद का उन्मूलन, राज्यों का भाषाई आधार पर पुनर्गठन, मज़दूर संघों में घुसपैठ और श्रमिक वर्ग के लिए सुरक्षात्मक क़ानूनों की रचना, उत्पीड़ित तबकों को विशेष सुविधाएँ दे कर जघन्य क्रिस्म की विषमताओं का उन्मूलन, हिंसा-राजद्रोह-अलगाववाद की सभी हरकतों को कड़ाई से दबाना।

कांग्रेस की केंद्रीयता को कांग्रेस 'प्रणाली' में बदलने के पीछे जवाहरलाल नेहरू की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। हालाँकि उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की महान विरासत और कांग्रेस के तैयारशुदा संगठन का लाभ मिला, पर अगर नेहरू का कार्यकाल इतना लम्बा न चलता तो आज़ादी के लाभों को इस शैली में मज़बूत न किया जा पाता। नेहरू ने दो धरातलों पर काम किया : अपनी प्रभावशाली शख़्सियत के दम पर देश को एक रखा और विघटनकारी तत्त्वों को किनारे धकेल दिया। वे लम्बे अरसे तक राष्ट्रीय एकता के प्रतीक बने रहे। दूसरे, उन्होंने देश को संस्थाएँ प्रदान कीं और उन्हें वैधता और आधुनिक उद्देश्यों से आवेशित किया। कोठारी नेहरू के काल को भारतीय इतिहास की एक असाधारण अवधि मानते हुए भी कहते हैं यह दौर कोई बहुत सहज नहीं था। इसकी दिक्कतों की सीमा नहीं थी।

कांग्रेस 'प्रणाली' बदलाव का एक विस्तृत तंत्र भी मुहैया कराती थी। नेहरू के जीवन में कामराज योजना और उनकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी खोजने की सफल क्रवायद इसका प्रमाण है। यह प्रणाली टकराव की अभिव्यक्ति और उसके हल का तंत्र भी प्रदान करती थी। हम देख चुके हैं कि यह काम किस तरह भीतरी और बाहरी दबाव के हाशियों के ज़रिये किया जाता था। यह प्रणाली धड़ेबंदी की संरचनाओं के माध्यम से समाज और राजनीति के बीच सम्पर्क सूत्र क़ायम करती थी।

कोठारी ने इस प्रणाली के भविष्य का भी अंदाज़ा लगाया था। उनका ख़याल था कि कुछ ऐसे दायरे बनने वाले हैं जिनमें विपक्ष कांग्रेस को पीछे छोड़ देगा। वह उन राज्यों में सरकार बनायेगा जहाँ कांग्रेस की पकड़ कमज़ोर होती जायेगी। यह भी हो सकता है कि कांग्रेस 'प्रणाली' की वैधता और ताक़त जिस नाज़ुक संतुलन पर निर्भर करती है, वही गड़बड़ा जाए। समय के साथ राजनीतिक प्रणालियाँ बदलती रहती हैं और एक ख़ास प्रणाली के बने रहने की कोई गारंटी नहीं होती। इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि विभिन्न दलीय

प्रणालियों की क्रिस्मों में एक पार्टी के वर्चस्व की यह प्रणाली एक विचारणीय योगदान है। यह भारतीय तर्जुबे से निकली राजनीति संगठन के एक टिकाऊ मॉडल का नमूना है।

देखें : गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम और जनवादी मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2003), 'कांग्रेस 'प्रणाली'', संकलित : अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी (1962), 'इण्डियाज़ पॉलिटिकल टेकऑफ़', *द इकॉनॉमिक वीकली*, बम्बई, विशेषांक.
3. डब्ल्यू.एच. मॉरिस जॉस (1964), 'पार्लियामेंट ऐंड डॉमिनेंट पार्टी : इण्डियन एक्सपीरियेंस', *पार्लियामेंटरी एफ़ेयर्स*, खण्ड 17, अंक 3.
4. ज़िगमण्ड न्यूमान (सम्पा.) (1956), *मॉडर्न पॉलिटिकल पार्टीज़*, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो.
5. सेमुअल जे. एल्डर्सवेल (1964), *पार्टी सिस्टम : ए बिहेवियर एनालिसिस*, रैंड मेकनेली.

— अभय कुमार दुबे

कांशी राम

(Kanshi Ram)

बीसवीं सदी के आख़िरी दो दशकों में भारतीय राजनीति को कांशी राम (1934-2006) से ज़्यादा किसी और नेता ने प्रभावित नहीं किया। वे उत्तर-आम्बेडकर दलित-राजनीति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतकार और सफलतम संगठक थे। राजनीतिक चिंतन और आचरण के अपने अनूठे तरीके से उन्होंने आरक्षण के गर्भ से निकली दलित नौकरशाही के आधार पर पहले एक सामाजिक आंदोलन का तानाबाना बुना, और फिर योजनाबद्ध तरीके से बहुत कम संसाधनों में उसे चुनाव लड़ कर सत्ता में आने वाली एक कामयाब राजनीतिक पार्टी में बदल दिया। उनकी मुहावरेदार अभिव्यक्ति से कई नये राजनीतिक फ़िकरे निकले। कांशी राम ने आम्बेडकर को अपना गुरु माना, लेकिन नये हालात के मद्देनज़र बड़ी सावधानी से बाबा साहेब की कई शिक्षाओं को पकड़ने या

छोड़ने का कौशल दिखाया। आजादी के बाद से देश में चल रही आम्बेडकरवादी राजनीति के नक्शे-कदम पर चलने से तो उन्होंने पूरी तरह इनकार ही कर दिया। कांशी राम ने फुले द्वारा प्रतिपादित आर्य बनाम अनार्य थीसिस को उत्तर भारत में पुनर्जीवित करके बहुजनवादी विचारधारा गढ़ी, हालाँकि आम्बेडकर ने इसे नस्ली थीसिस कह कर खारिज कर दिया था। कांशी राम ने दलित राजनीति में ब्राह्मणवाद के ऊपर मनुवाद नाम की एक नयी धारणा को प्राथमिकता दी, यद्यपि आम्बेडकर ने मनु को जातिवाद का संस्थापक मानने से इनकार कर दिया था। उन्होंने समतामूलक नागर समाज बनाने के आम्बेडकरवादी कार्यभार को भी नज़रअंदाज़ किया। उन्होंने मुख्य रूप से बाबा साहेब की दो हिदायतों को रेखांकित किया। पहली, राजसत्ता चाबियों की चाबी है और राजनीति का शक्ति-संतुलन अपने हाथ में रखना ही दलितों की रणनीति होनी चाहिए। दूसरी, चुनाव में जीत के लिए उत्पीड़ित वर्गों का मोर्चा बनाना होगा। कांशी राम की सफलता के कारण दलित होना नुकसान के बजाय फ़ायदे की चीज़ बन गया।

कांशी राम न तो फुले की तरह साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे, और न ही वे आम्बेडकर की तरह पश्चिमी समाज-विज्ञान में पारंगत थे। उन्होंने अपने पीछे कोई उल्लेखनीय लिखित शास्त्र नहीं छोड़ा। दरअसल, उनका सैद्धांतिक योगदान राजनीतिक व्यवहार की देन है। कांशी राम के राजनीतिक जीवन को तीन हिस्सों में बाँट कर देखा जा सकता है। पहली अवधि वह थी जब उन्होंने किर्की (पुणे) की एक्सप्लोसिव रिसर्च ऐंड डिवेलपमेंट लेबोरेटरी में अनुसंधान सहायक की नौकरी करते हुए रिपब्लिकन धड़ों की राजनीति में भागीदारी की। इसी दौरान वे आम्बेडकर और फुले के लेखन से परिचित हुए। कांशी राम के इन अनुभवों का निचोड़ उनकी छोटी सी पुस्तिका *द चमचा एज : द ऐरा ऑफ़ स्टूज़िज़* में देखा जा सकता है, जो इस अवधि के उनके तलख़ तर्जुबों का नतीजा है। दूसरे चरण में कांशी राम ने उत्पीड़ित वर्गों का मोर्चा बनाने के मक़सद से बहुजन थीसिस का प्रतिपादन किया और एक-एक करके बामसेफ़, डीएस-फ़ोर और बहुजन समाज पार्टी जैसे संगठनों की रचना की। तीसरे चरण में कांशी राम ने राजनीतिक समझौते करने और तोड़ने की प्रक्रिया के ज़रिये बसपा जैसे नये राजनीतिक दल को राष्ट्रीय पार्टी की हैसियत दिलाई। उन्हें उत्तर प्रदेश में राजनीतिक सत्ता मिली और इस सफलता के आधार पर इस प्रदेश में दलित जातियाँ एक ताक़तवर राजनीतिक समुदाय का रूप लेती चली गयीं। यही वह दौर था जब मनुवाद की थीसिस के सूत्रीकरण के ज़रिये कांशी राम ने 'बहुजन' से 'सर्वजन' की तरफ़ यात्रा की जिसके अद्भुत राजनीतिक परिणाम उनके निधन के बाद सामने आये। उनके सर्वजन का

मतलब था दलित वर्चस्व के तहत समाज के सभी वर्गों को सत्ता में भागीदारी का निमंत्रण।

पुणे में अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत करके कांशी राम ने रिपब्लिकन पार्टी से लेकर दलित पेंथरों तक से संबंध रखे और खुद अपने दलित संगठन भी बनाये। लेकिन जल्दी ही उन्हें दलित राजनीति के इस रूप से निराशा होने लगी। उन्हें लगा कि आपस में हरदम लड़ते रहने और व्यर्थ की बहसों में उलझे रहने वाले दलित नेता ब्राह्मण वर्ग के चमचे हैं। कांशी राम ने अपनी पुस्तक *द चमचा एज* में गाँधी और आम्बेडकर के बीच हुए पुणे पैक्ट को इस स्थिति का ज़िम्मेदार ठहराया। उनका कहना था कि पुणे पैक्ट के कारण दलितों को पृथक मतदातामण्डल की हैसियत नहीं मिल सकी जिसके कारण उन्हें विधायिकाओं में अपने वास्तविक प्रतिनिधित्व से वंचित होना पड़ा और ग्रामों में अल्पसंख्यक सवर्णों की हैसियत क़ायम रही। संयुक्त निर्वाचन के तहत दलित सदा के लिए सवर्ण हिंदुओं के सहारे हो गये। राजनीति में हैसियत प्राप्त करने के लिए उन्हें मजबूरन ऊँची जातियों की चाटुकारिता करनी पड़ी। कांशी राम ने जगजीवन राम जैसे कांग्रेसी दलितों और इंदिरा गाँधी की तारीफ़ में कविता लिखने वाले नामदेव ढसाल जैसे दलित पेंथर को एक ही पलड़े में रखा। उन्होंने 1978 के मराठावाड़ा दंगों में पेंथरों को नाकाम होते हुए भी देखा। इसके बाद कांशी राम ने रिपब्लिकन राजनीति से अपना नाता तोड़ लिया।

अपने राजनीतिक जीवन के दूसरे दौर में कांशी राम ने मुख्य तौर से दो काम किये। पहला, फुले की बहुजन थीसिस को पुनर्जीवित किया और दलित नौकरशाही में राजनीतिक-सामाजिक आधार बनाते हुए राजनीतिक संगठन खड़ा किया। उन्नीसवीं सदी में फुले ने आर्य-आक्रमण के दृष्टांत का सहारा लेते हुए दावा किया था कि एक ज़माने में भारतीय समाज राजा बली के शासन तले जाति-भेद विहीन संरचनाओं से सम्पन्न था। आर्यों ने आक्रमण किया और धोखे से वामन अवतार के ज़रिये राजा बली से उनका राज्य छीन लिया गया। अपने ख़िलाफ़ किसी भी तरह की संग्रामी एकता की सम्भावना नष्ट करने के लिए आर्यों ने समाज को जातियों में बाँट दिया। उनके सबसे मज़बूत विरोधियों को अछूत घोषित कर दिया गया। ब्राह्मण इन्हीं आर्यों के वंशज थे। इसी तर्ज़ पर कांशी राम ने कहा कि देश में पचासी फ़ीसदी लोग अनार्य और इस धरती के मूल निवासी हैं। फुले की थीसिस से ही कांशी राम ने बहुजन एकता का फ़ार्मूला निकाला। उन्होंने कहा कि अछूत जातियाँ, अति-पिछड़ी जातियाँ और धर्मांतरण करके मुसलमान-ईसाई-सिक्ख बनी निचली जातियाँ बहुजन समाज का निर्माण करती हैं।

उनकी यह थीसिस किसी ठोस जनाधार की अगुआई में ही परवान चढ़ सकती थी। 6 दिसम्बर, 1978 को उन्होंने



कांशी राम (1934-2006)

अपना पहला संगठन बनाया : बामसेफ़ (ऑल इण्डिया बेकवर्ड ऐंड माइनारिटीज़ कम्प्युनिटीज़ एम्प्लाइज़ फ़ेडरेशन)। यह पूरी तरह अनौपचारिक, अपंजीकृत, ग़ैर-धार्मिक, ग़ैर-आंदोलनकारी और ग़ैर-राजनीतिक संगठन था। इसकी यह प्रकृति दलित नौकरशाही के सदस्यों के अनुकूल बैठती थी, क्योंकि वे क्रान्ति राजनीति में भाग नहीं ले सकते थे। सर्वप्रथम अफ़सरो की जातिवादी ज्यादतियों के खिलाफ़ संघर्ष चलाते ही बामसेफ़ के क्रम जमने लगे। कांशी राम ने बामसेफ़ के सदस्यों को बहुजन आंदोलन के 'ब्रेन बैंक, टेलेंट बैंक और फ़ाइनेंशियल बैंक' के रूप में देखा। बामसेफ़ का पूरी नियंत्रण निजी तौर पर कांशी राम के हाथ में ही रहता था।

ठीक तीन साल बाद 6 दिसम्बर, 1981 को कांशी राम ने डीएस-फ़ोर (दलित शोषित समाज संघर्ष समिति) का गठन किया। यह बाकायदा एक राजनीतिक दल नहीं था, पर उसकी गतिविधियाँ एक पार्टी जैसी ही थीं। डीएस-फ़ोर ने उत्तर प्रदेश, हरियाणा और बिहार में चरण सिंह, देवीलाल और कर्पूरी ठाकुर का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इसी संगठन के महिला विंग के संयोजक के तौर पर मायावती के राजनीतिक जीवन की शुरुआत हुई। इस संगठन ने सारे देश में लम्बे-लम्बे साइकिल मार्च किये, शराब विरोधी मुहिमें चलायीं, जम कर प्रचार किया और बिना चुनाव लड़े एक तरह की चुनाव मशीनरी खड़ी कर ली।

14 अप्रैल, 1984 को आम्बेडकर के जन्म-दिवस पर कांशी राम ने दिल्ली में बहुजन समाज पार्टी (बसपा) के गठन की घोषणा की। इस नयी पार्टी की खास बात यह थी कि उसके पीछे दो बेहद ताकतवर और सक्रिय संगठन थे। बामसेफ़ एक छाया की तरह बसपा का पूरा कार्यभार अपने कंधों पर उठाता था। डीएस-फ़ोर उसके लिए कार्यकर्ताओं की सप्लाई का स्रोत था। बसपा को बाकायदा चुनाव आयोग से

पंजीकृत कराया गया। उसका उद्देश्य चुनाव लड़ना था। पंजाब के विधान सभा चुनाव में बसपा ने कांग्रेस की झोली से 2.2 प्रतिशत दलित वोट छीन कर दिखाया कि अगर ये वोट उसे मिलते तो वह अकालियों को हरा सकती थी। इसके बाद बिजनौर और हरिद्वार के उपचुनावों में कांशी राम ने बसपा की दलित वोटों पर दावेदारी साबित की, और 1988 में इलाहाबाद के उपचुनाव में विश्वनाथ प्रताप सिंह और अनिल शास्त्री जैसे दिग्गज उम्मीदवारों के मुकाबले केवल साइकिल और माइक के दम पर 71 हजार से ज़्यादा वोट ले कर दिखाये।

इन शुरुआती करामातों के बाद कांशी राम के राजनीतिक जीवन का तीसरा दौर शुरू हुआ। इसमें उन्होंने समाज परिवर्तन की रैडिकल भाषा बोलनी कम कर दी। राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में वे जोड़-तोड़ में माहिर सबसे बड़े खिलाड़ी के रूप में उभरे। उन्होंने 'हमें मजबूत नहीं, मजबूर सरकार चाहिए' और 'हम अवसरवादी हैं क्योंकि हमें अवसर मिले ही कहाँ हैं' जैसे फ़िकरों का इस्तेमाल करके अपने विरोधियों और आलोचकों को चौंकाया। मुलायम सिंह यादव से समझौता करके उन्होंने इटावा निर्वाचन क्षेत्र से 1992 में लोक सभा सदस्य बनने में कामयाबी हासिल की। 1992 में ही आतंकवाद पीड़ित पंजाब में कांशी राम की बसपा ने जिस निर्भयता और हिम्मत के साथ चुनाव लड़ा, उसकी चारों ओर तारीफ़ हुई। इसी सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए 1993 में समाजवादी पार्टी से गठजोड़ करके कांशी राम ने बाबरी मसजिद ध्वंस के समय मने हिंदू-विजय दिवस की हवा निकाल दी। पहले उन्होंने सपा से मिल कर भाजपा को पराजित किया। फिर भाजपा के साथ मिल सपा की सरकार गिरायी और भाजपा के समर्थन से ही अपनी सरकार बना ली।

बसपा की सरकार ज़्यादा नहीं चली, लेकिन मुलायम सिंह को सत्ता में आने से रोकने के लिए भाजपा ने मजबूरन बसपा की दो बार और सरकार बनवायी। कांशी राम की राजनीति इस सफलता से जम कर परवान चढ़ी। इसी प्रक्रिया में कांशी राम ने मायावती को आगे रख कर उत्तर प्रदेश में जो चुनावी राजनीति की, उसकी प्रमुख खूबियाँ थीं : ब्राह्मणवाद के बजाय मनुवाद की नयी धारणा और बहुजन के बजाय सर्वजन की ओर रुझान। यह एक वैचारिक और रणनीतिक नवाचार था जिसके कारण कांशी राम को किसी भी जाति या समुदाय के सदस्यों को बसपा में शामिल करने या उसके राजनीतिक प्रतिनिधियों के साथ समझौता करने की छूट मिल गयी। दलित वोट उनकी झोली में थे क्योंकि पूर्व-अछूतों को यकीन हो चुका था कि उन्हें सत्ता के नज़दीक केवल बसपा पहुँचा सकती है। इसी यकीन ने उत्तर प्रदेश की दलित जातियों को एक प्रबल राजनीतिक समुदाय में बदल दिया। अन्य समुदायों में ऐसे तत्त्व थे जो दलित वोटों की गारंटी के बदले बसपा के साथ जुड़ने के लिए तैयार हो सकते थे। इस

हकीकत को पहचानना ही कांशी राम की सबसे बड़ी खूबी थी। 2001 में मायावती को उत्तराधिकारी घोषित करने के उनके क्रम को भी राजनीतिक प्रेक्षक इसी रणनीति का एक हिस्सा मानते हैं। इसी रणनीति ने उनके देहांत के बाद बहुजन समाज पार्टी को ऊँची जातियों के कुल इतने वोट तो जरूर ही दिला दिये जिससे उसे 2007 के विधान सभा चुनाव में ऐतिहासिक बहुमत मिल सका।

कांशी राम का जन्म पंजाब के रोपड़ ज़िले के खवासपुर गाँव के एक दलित रामदसिया सिक्ख परिवार में 15 मार्च, 1934 को हुआ था। उनके दादा और चाचा सेना में थे और उनकी शुरुआती शिक्षा-दीक्षा गाँव में ही हुई। 1956 में उन्होंने रोपड़ के एक कॉलेज से बीएससी की परीक्षा पास की। शुरू में वे वैज्ञानिक बनना चाहते थे, पुणे में अनुसंधान सहायक की नौकरी करते हुए उन्होंने आम्बेडकर जयंती और बुद्ध जयंती पर छुट्टी रखने के सवाल पर दीना भान नामक राजस्थानी दलित कर्मचारी के संघर्ष का साथ दिया। वे दीना भान के उत्पीड़न के खिलाफ़ अदालत तक गये। फ़ैसला कांशी राम के हक़ में हुआ। इस शुरुआती अनुभव ने कांशी राम के सामने क्रान्ती तौर-तरीकों की उपयोगिता और महत्त्व को स्थापित किया। इसके बाद उन्होंने किसी भी कथित क्रांतिकारी तरीके की अहमियत कभी नहीं मानी। आम्बेडकर द्वारा स्थापित पीपुल्स एजुकेशन सोसाइटी की गतिविधियों में भाग लेने से उन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्रवाई का मिश्रित अनुभव मिला। 1964 में उन्होंने नौकरी छोड़ी और अपनी माँ को एक लम्बा पत्र लिख कर विवाह न करने के फ़ैसले की जानकारी दी। उन्होंने सारे नाते-रिश्ते अपनी तरफ़ से तोड़ कर रोपड़ (पंजाब) स्थित अपने घर जाना बंद कर दिया और व्यक्तिगत जीवन के सारे दायित्वों से स्वतंत्र हो गये।

कांशी राम एक बेहद परिश्रमी और लगातार कार्यरत रहने वाले नेता थे। वे चाहते तो उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बन सकते थे, पर उन्होंने हर बार मायावती को गद्दी पर बैठाया और खुद को राष्ट्रीय राजनीति करने के लिए खाली रखा। उनका देहांत 9 अक्टूबर, 2006 को लम्बी बीमारी के बाद हुआ। उनकी अंत्येष्टि बौद्ध परम्परा के मुताबिक़ की गयी। उनकी शवयात्रा में उनके लाखों समर्थकों और प्रशंसकों ने भागीदारी की।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आर्यकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, किशन फ़ागूजी बनसोड़े, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (1997), *कांशी राम : एक आलोचनात्मक अध्ययन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. अभय कुमार दुबे (1998), 'एनाटॉमी ऑफ़ अ दलित पॉवर प्लेयर', घनश्याम शाह (सम्पा.), *दलित पॉलिटिक्स एंड कल्चर*, सेज, दिल्ली.
3. आर.के. सिंह (1996), *कांशी राम और बीएसपी*, कुशवाहा बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद.
4. कांशी राम (1998), *द चमचा एज : द ऐरा ऑफ़ स्टूजिज़*, अनुवाद : रामगोपाल आजाद, समता प्रकाशन, नागपुर.

— अभय कुमार दुबे

किसन फ़ागूजी बनसोड़े

(Kisan Faaguji Bansode)

आम्बेडकर और उनके संघर्ष के लिए पूर्व-पीठिका तैयार करने करने वाली हस्तियों में स्वतंत्रता सेनानी, लेखक, नाटककार और सामाजिक कार्यकर्ताओं में किसन फ़ागूजी बनसोड़े (1879-1946) का नाम अग्रिम पंक्ति में है। उन्होंने दलित साहित्य की परम्परा में विपुल लेखन करते हुए वह रास्ता दिखाया जिस पर दलित साहित्यकारों तथा पत्रकारों की नयी पीढ़ियाँ चलीं। 1910 में बनसोड़े ने *निराश्रित हिंद नागरिक* पत्रिका की शुरुआत की, 1913 में *विशाल विध्वंसक*, 1918 में मजूर तथा 1913 में *चोखामेला* पत्रिकाओं की शुरुआत की। बनसोड़े पत्रकारिता के महत्त्व को अच्छी तरह से समझ गये थे, उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं की शृंखला को आगे बढ़ाने पर लगातार ध्यान दिया। यही नहीं वे *देश सेवक*, *दीनबंधु*, *सुबोध* जैसी पत्रिकाओं में भी नियमित लेखन करते रहते थे। साहित्य तथा पत्रकारिता से जुड़ने के साथ-साथ 1920 के बाद बनसोड़े गाँधी के सम्पर्क में आये। अस्पृश्यता निवारण हेतु उन्होंने गाँधी से विचार-विमर्श किया। संवाद की इस प्रक्रिया में उन्हें नये अनुभव हुए। असहयोग आंदोलन में भागीदारी के दौरान बनसोड़े ने सेंट्रल और बेरार प्रांत के कांग्रेसी नेताओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया।

किसन फ़ागूजी बनसोड़े का जन्म 18 फ़रवरी, 1879 में नागपुर के समीप मोहपा गाँव के एक महार परिवार में हुआ था। महाराष्ट्र में वे नार्मल स्कूल के पहले प्रशिक्षित अध्यापक थे। लेकिन जल्दी ही वे अध्यापन से समाज-सुधार की ओर मुड़ गये और उनकी गतिविधियों और बौद्धिकता ने उन्हें जल्दी ही विदर्भ क्षेत्र में प्रसिद्ध कर दिया। 1901 में उन्होंने

सन्मार्ग बोधक अस्पृश्य समाज नामक संस्था की स्थापना कर नागपुर से सामाजिक कार्यों की शुरुआत की और हाशिए के लोगों को मुख्य धारा में लाने का प्रयास किया। 1907 में नागपुर के ही पचपावली में उन्होंने चोखामेला गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। वे दलित समाज में शिक्षा की ज्योति जलाना चाहते थे। पहले समाज सेवा, फिर शिक्षा और बाद में पत्रकारिता— उनकी इन तीन गतिविधियों ने दलित समाज को चेतना के स्तर पर काफ़ी लाभ पहुँचाया। उनकी छवि एक ऐसे व्यक्ति की बन गयी जो पग-पग पर दलितों का हाथ पकड़ कर चलना सिखाते हुए उनमें स्वाभिमान जगा रहा था।

डॉ. आम्बेडकर के राजनीतिक आकाश पर उदय के समय बनसोड़े एक समाज-सुधारक के रूप में क्रम जमा चुके थे। आम्बेडकर ने जब शिक्षा को अपने घोषणा पत्र का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनाया तब बनसोड़े ने रात्रिकालीन विद्यालयों और हॉस्टल की स्थापना की। दलितों के प्रेरक संत महापुरुषों के जीवन संघर्ष को सामने लाने के लिए उन्होंने 1924 में उन्होंने *संत चोखामेला* नाटक की रचना की। यह नाटक दलित बस्तियों में अनगिनत बार मंचित हुआ। उनके द्वारा लिखे गये अन्य नाटकों में *एका साधू जी फ़जीती*, *सत्यशोधकी जलसा* और *चोखामेला दर्शन* विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। उनके एक नाटक *सनातन धर्माया पंचरंगी तमाशा* को समाज-सुधार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस नाटक में एक महार और भट-ब्राह्मण के बीच संवाद होता है जिसके जरिये हिंदू समाज में फैली विषमता रेखांकित होती है। इस तरह लोक-नाट्य की डोर पकड़ कर बनसोड़े ने दलितों को साहित्य, संस्कृति तथा इतिहास से जोड़ने की मुहिम चलायी। उन्होंने कभी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर व्यंग्य भी किया, तो कभी अपनी कविताओं से दलितों को जागरूक बनाया।

जून, 1920 को नागपुर में हुई पहली ऑल इण्डिया डिप्रेस्ड क्लास कांफ़्रेंस की स्वागत समिति के सचिव की हैसियत से हिंदू धर्म में निहित सामाजिक विषमता पर आक्रोश प्रकट करते हुए बनसोड़े ने एक ऐसा प्रस्ताव रखा जिसकी वजह से उन्हें द्विजों के गुस्से का सामना करना पड़ा। उन्होंने कांफ़्रेंस के मंच से कहा कि वे अपनी बेटी का विवाह भंगी जाति के किसी किसी युवक से करना चाहते हैं, और अपने बेटे की वधू के रूप में किसी भी ब्राह्मण लड़की को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। इस वक्तव्य का नतीजा यह निकला कि जातिवादियों ने बनसोड़े का प्रेस जला दिया।

1945 में जब वे कैसर से बीमार हुए तब उन्हें इलाज के लिए बम्बई लाया गया। डॉ. आम्बेडकर ने उनका भरसक इलाज करवाया, लेकिन 10 अक्टूबर, 1946 को इस साहित्यकार और समाजसेवी का निधन हो गया।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. चंद्र कुमार वरठे (1997), *दलित साहित्य आंदोलन*, रचना प्रकाशन, जयपुर, 1997.
2. आर.के. क्षीरसागर (1994), *दलित मूवमेंट इन इण्डिया*, एम.डी. पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.
3. माता प्रसाद (2010), *भारत में दलित जागरण और उनके आग्रदूत*, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— मोहन दास नैमिशराय

क्लिफर्ड गीट्ज़

(Clifford Geertz)

प्रसिद्ध अमेरिकी मानवशास्त्री क्लिफर्ड गीट्ज़ (1926-2006) को मुख्यतः संस्कृति-अध्ययन के क्षेत्र में व्याख्यात्मक दृष्टिकोण के लिए जाना जाता है। इसे सिम्बॉलिक एंथ्रोपोलॉजी के विकास और विशेषज्ञता के रूप में भी देखा गया है। मानवशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय रहते हुए गीट्ज़ ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि अध्ययन का यह क्षेत्र बहुत छोटे सामाजिक समूह की गतिविधियों तक ही स्वयं को सीमित कर लेता है। उनके अनुसार किसी भी मानवशास्त्री का काम साहित्यिक समालोचक की तरह होता है। समालोचक किसी कृति को पाठ (टेक्स्ट) की तरह देखता है और उसी प्रकार मानवशास्त्री भी समाज में प्रचलित विभिन्न सांस्कृतिक व्यवहारों को पाठ की तरह देख कर उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता है। गीट्ज़ ने द्वितीय विश्व-युद्ध में अमेरिकी नौसेना में काम किया और आगे चल कर हार्वर्ड विश्वविद्यालय से पीएचडी की डिग्री प्राप्त की। उन्होंने अमेरिका की ही शिकागो युनिवर्सिटी और प्रिंसटन के इंस्टिट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडीज़ में एंथ्रोपलाजी के प्रोफ़ेसर के तौर पर अध्यापन भी किया। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं, *द इंटरप्रिटेशंस ऑफ़ कल्चर*, *एग्रीकल्चरल इनवोल्यूशन*, *पैडलर ऐंड प्रिंसेज : सोशल डिवलपमेंट ऐंड इकॉनॉमिक चेंज इन टू इंडोनेशियन टाउंस*, *एवेलबिल लाइट्स : एंथ्रोपोलॉजिकल*



क्लिफर्ड गीट्ज़ (1926-2006)

रिफ्लेक्शंस ऑन फिलॉसॉफिकल टॉपिक्स।

मानवशास्त्री होने के नाते अपने दायित्व के बारे में गीट्ज़ ने स्वयं लिखा है : 'मैं कुछ ज्यादा करना चाहता हूँ। मैं साहित्यिक समालोचकों के कुछ तरीकों का इस्तेमाल करना चाहता हूँ। इतिहासकारों व दार्शनिकों के तरीकों का भी संस्कृति-विषयक सच्चाइयाँ जानने में प्रयोग करना चाहता हूँ।' पर किसी भी समुदाय-जाति, कबीले या प्रजाति के जो व्यापक ब्योरे एकत्र किये जाते हैं उनकी वस्तुनिष्ठता पर संदेह भी बना रहता है। इसीलिए गीट्ज़ ने मानवशास्त्रीय अध्ययनों की गल्प से भी तुलना की है। यहाँ फ़िक्शन शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया गया है कि अध्ययन संबंधी सामग्री या निष्कर्ष पूर्णतया कल्पित हैं। बल्कि इस अर्थ में कि जो व्याख्याएँ की जाती हैं, वे मूल निवासी के साथ सम्पर्क पर तो आधारित होती हैं लेकिन प्रायः दूसरे या तीसरे स्रोतों पर निर्भर रहती हैं। यानी वे हमेशा निश्चित सत्य का प्रतिपादित नहीं करती और उन पर संदेह तथा बहस की सम्भावना रहती है। गीट्ज़ के अनुसार मानवशास्त्र का विकास इसी रूप में हो सकता है कि पहले के विद्वानों ने जो सामग्री उपलब्ध करायी है, उसकी ज्यादा गहराई से जाँच-परख की जाए और पाठकों को अजनबियों के संसार के यथार्थ को समझने में सहायक हो।

गीट्ज़ ने मानवशास्त्र का एक उद्देश्य यह भी बताया है कि वह सूक्ष्म विवरणों (थिन डिस्क्रिप्शन) के स्थान पर व्यापक व्याख्याओं (थिक डिस्क्रिप्शन) से अधिक जुड़ा होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि वह किसी समुदाय की सांस्कृतिक गतिविधियाँ उसके गहन अर्थ को स्थापित करती है। उदाहरण के लिए सामाजिक जीवन में जोर से आँखें झपकाने और शरीर हिलाना दैहिक रूप से एक जैसी क्रियाएँ हैं। लेकिन आँख झपकाने से एक खास तरह का सामाजिक सम्प्रेषण जुड़ा हुआ है। यह एक अर्थगर्भित प्रतीक है।

गीट्ज़ ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'संस्कृति प्रतीकात्मक रूपों में प्राप्त विरासत में मिली धारणाओं की व्यवस्था है जिनके जरिये मनुष्य सम्प्रेषण करता है तथा जीवन के बारे में ज्ञान एवं दृष्टिकोण का विकास करता है।' गीट्ज़ के ऊपर मैक्स वेबर के संस्कृति संबंधी चिंतन का भी काफ़ी प्रभाव पड़ा। अपने संस्कृति संबंधी दृष्टिकोण पर उन्होंने लिखा : 'मैक्स वेबर की तरह मैं भी मानता हूँ कि मनुष्य स्वयं के लिए प्रतीकार्थों का जाल तैयार करता है और उसी के बीच निवास करता है। संस्कृति को भी मैं वैसा ही जाल मानता हूँ। उसका विश्लेषण नियमों की खोज में लगे प्रयोगमूलक विज्ञान जैसा न हो कर अर्थों की खोज करने वाली व्याख्यात्मक पद्धति का हिस्सा है।'

इस प्रकार गीट्ज़ ने संस्कृति को ऐसे प्रसंग की तरह परिभाषित किया जिसके माध्यम से सामाजिक घटनाएँ, गतिविधियाँ, व्यवहार, संस्थाएँ तथा प्रक्रियाएँ तार्किक रूप से व्याख्यायित हो सकती हैं। यानी संस्कृति बहुत सारे शारीरिक संकेतों जैसे पलकों के हिलने आदि को सम्प्रेषण संबंधी गतिविधि में बदलने को सम्भव बनाती है। यहाँ संस्कृति को किसी प्रतीक संबंधी अवधारणा की तरह देखा जा रहा है, हालाँकि गीट्ज़ ने सँस्यूर या याकोबसन जैसे भाषाशास्त्रियों की तरह संस्कृति के बारे में प्रतीक के किसी व्यवस्थित सिद्धांत की प्रस्तुति नहीं की। उन्होंने संस्कृति और सामाजिक संरचना के बीच भेद को सावधानी से बनाये रखा। गीट्ज़ ने अपने अनुसंधान और चिंतन को लेवी-स्ट्रॉस जैसे प्रकार्यवादियों से भी अलग स्थापित किया। लेवी-स्ट्रॉस मानते थे कि संस्कार, संस्थाएँ और संस्कृति के दूसरे पक्ष समाज के लिए अपनी उपयोगिता के माध्यम से सर्वश्रेष्ठ ढंग से समझे जा सकते हैं।

गीट्ज़ का स्पष्ट तौर पर मानना था कि हमारा काम यह पता लगाना नहीं है कि संस्कृति मानव समाज के लिए करती क्या है, बल्कि यह जानना है कि विभिन्न सांस्कृतिक व्यवहारों तथा रूपों का अर्थ क्या है। उन्होंने इस विचार का भी विरोध किया कि समस्त संस्कृतियों में कोई व्यक्ति मूल मानवीय सार की एकरूपता को निर्धारित कर सकता है। उन्होंने लिखा कि मानव-सार के विचार को केवल सार्वभौम संस्कृतियों में ढूँढ़ने की बात करना और अपेक्षाकृत पृथक एवं विशिष्ट संस्कृतियों में उन्हें अनुपस्थित मानने का विचार पूर्वग्रह से भरा हुआ है। प्रेक्षकों का विचार है कि गीट्ज़ के चिंतन पर गिलबर्ट रायी और विट्टोस्टाइन का भी काफ़ी प्रभाव है।

गीट्ज़ के मुताबिक मानवशास्त्रियों को एकदम नये व भिन्न परिवेश की संस्कृति में प्रायः अराजकता दिखती है और सिर चकरा देने वाली घटनाओं का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उन्हें व्याख्याओं के लिए अपने पैर

अवधारणाओं में जमाने होते हैं। गीट्ज़ ने अपनी अध्ययन सामग्री जुटाने के लिए विशेष तौर पर इंडोनेशिया के जावा, बाली और सुमात्रा तथा मोरक्को की यात्राएँ की। गीट्ज़ के लेखन में सांस्कृतिक अवधारणाओं को लेकर थोड़ी दुविधापूर्ण स्थिति भी देखने को मिलती है, क्योंकि वे उन मानवशास्त्रीय दृष्टिकोणों का खण्डन करते हैं जो संस्कृतियों को लोककथा में बदलते हैं, उनके तथ्य तथा विवरण एकत्र करते हैं, उन्हें संस्थाओं में तब्दील करते हैं और उनकी श्रेणियाँ तैयार करते हैं। गीट्ज़ के मुताबिक सांस्कृतिक अवधारणा का उद्देश्य यह पता लगाना नहीं कि संस्कृतियाँ कैसे कार्य करती हैं। सिद्धांतों को नृजातिविवरणों पर आरोपित नहीं किया जा सकता। बल्कि सिद्धांतों में शब्दकोश, प्रतीक, विचारधारा, द्वंद्व, विश्व-दृष्टि, करिश्मा आदि चीजें सम्मिलित होती हैं। किसी मानवशास्त्री द्वारा जिन अर्थगर्भित प्रतीकों का सामना किया जाता है, ये समस्त चीजें उनकी अभिव्यक्ति में सहायक होती हैं।

गीट्ज़ ने बृहद समाजशास्त्रीय सैद्धांतिकियों का विरोध किया और रोज़ाना के जीवन के उत्कृष्ट पहलुओं को लेकर व्याख्यात्मक अन्वेषणों को विशेष महत्त्व प्रदान किया। इसीलिए उनके कुछ समकालीन विद्वानों ने इस बात पर निराशा भी जतायी कि गीट्ज़ ने अपने लेखन में विस्तृत सिद्धांत नहीं पेश किये हैं। गीट्ज़ इस पर विशेष ध्यान देते हैं कि कोई मूल निवासी अपने कार्यों को किस प्रकार अर्थपूर्ण मानता है और उसकी इस समझदारी के आधार पर किस प्रकार संबंधित समाज और सम्भवतः सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का संचालन होता है। उनका यह भी मानना है कि मानवशास्त्री की असल शक्ति अपने पाठकों को यह समझाने में निहित है कि उसके नृजाति विवरण की सच्चाई केवल उसकी श्रमपूर्ण खोजों पर नहीं आधारित होती, बल्कि उस आलंकारिक शैली पर आधारित होती है और साथ ही पाठ के भीतर निर्मित होने वाले लेखकीय व्यक्तित्व से भी इसका संबंध होता है। गीट्ज़ के सामाजिक और सांस्कृतिक सैद्धांतिकी के क्षेत्र में योगदान का असर भौगोलिकी, राजनीति विज्ञान, पर्यावरण, मानव-अध्ययन और शांति के क्षेत्र में सक्रिय विद्वानों पर भी पड़ा है।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफर्ड गीट्ज़, जॉर्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, पिएर बोर्दियो, फ्रेंज उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. क्लिफर्ड गीट्ज़ (1968), *पेडलर एंड प्रिंसेज : सोशल डिवेलपमेंट एंड इकोनॉमिक चेंज इन टू इंडोनेशियन टाउंस*, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो।

2. क्लिफर्ड गीट्ज़ (1964), *एग्रीकल्चरल इनवोल्यूशन : द प्रॉसेज़ ऑफ़ इकोलॉजिकल चेंज इन इंडोनेशिया*, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो।
3. क्लिफर्ड गीट्ज़ (1973), *द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क।
4. नैसी के. फ्रैंकेनबरी और हेंस एच.पैनर (1999), *क्लिफर्ड गीट्ज़ लांग लास्टिंग मूड्स, मोटिवेशन एंड मेटाफ़िजिकल कनसेप्शंस*, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी।

— वैभव सिंह

कीसियन अर्थशास्त्र

(Keynesian Economics)

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के आखिरी वर्षों में विश्व अर्थव्यवस्था पर हुए मंदी के हमले के कारण आर्थिक विज्ञान के बौद्धिक हल्कों में एक बार फिर जॉन मेनार्ड कींस द्वारा प्रचलित आर्थिक सिद्धांतों की चर्चा होने लगी है। इन्हीं आर्थिक सिद्धांतों के जरिये विश्व पूँजीवाद बीसवीं सदी के तीसरे दशक की महामंदी से निकल पाया था। कींसवाद को मुख्यतः सरकार की राजकोषीय नीतियों के जरिये घाटे की अर्थव्यवस्था चला कर रोज़गार के अवसरों का सृजन करने की नीति के लिए जाना जाता है। इस लिहाज़ से कींसवाद की तुलना हमेशा उन आर्थिक सिद्धांतों से की जाती है जो अर्थव्यवस्था में मुद्रा नीति को प्रमुखता देने के जरिये अर्थव्यवस्था का प्रबंधन करने के लिए जाने जाते हैं। कींस के प्रमुख सिद्धांत उनकी विख्यात कृति जनरल *थियरी ऑफ़ एम्प्लॉयमेंट, इंटेरेस्ट एंड मनी* (1936) में दर्ज हैं। लोकोपकारी राज्य, पूर्ण रोज़गारोन्मुख राज्य और कम उथल-पुथल या सापेक्षिक स्थायित्व वाली अर्थव्यवस्थाओं को सैद्धांतिक और नीतिगत ज़मीन देने में कींसियन अर्थशास्त्र की अहम भूमिका रही है। 2008 की महामंदी के पीछे अस्सी के दशक के बाद से कींस के सोच और नीतिगत सुझावों से हटना भी एक कारण माना जा सकता है। तीसरी दुनिया में राष्ट्रीय योजनाओं द्वारा आर्थिक संवृद्धि के प्रयासों में कींस के सकलीय या समग्र आर्थिक सिद्धांत का बहुत योगदान है।

कींस का मुख्य योगदान यह था कि उन्होंने समष्टिगत अर्थशास्त्र (मैक्रोइकॉनॉमिक्स) के क्लासिकल संस्करण के बरक्स एक नये समष्टिगत आर्थिक मॉडल की रचना की और प्रभावी माँग को उसका आधार बनाया। कींस के पहले फ्रांसीसी अर्थशास्त्री ज्यॉ बापतीस्त से द्वारा प्रवर्तित नियम का बोलबाला था जिसे 'से का नियम' कहा जाता है। से का कहना था कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन की अधिकता कभी हो

ही नहीं सकती, क्योंकि खरीदारी बिके हुए माल से होने वाली आमदनी से होती है। इस तरह से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आपूर्ति अपनी माँग ख़ुद पैदा करती है। से का दावा यह भी था कि अर्थव्यवस्था अपना संतुलन ख़ुद प्राप्त करती है और इस प्रक्रिया में पूर्ण रोज़गार की स्थिति सम्भव है। से के इस सिद्धांत का खण्डन करने वाले कीस के विचार माँग की कमी, उत्पादन की अधिकता और बेरोज़गारी के प्रकोप से पैदा हुए महामंदी के दौर में काफ़ी उपयोगी साबित हुए। इन विचारों की सफलता ने कीसवाद को जन्म दिया। आगे चल कर कीस के कई अनुयायी विद्वानों ने उनके सिद्धांतों की ज़मीन पर खड़े हो कर एक पूरे अर्थशास्त्र की ही रचना कर डाली जिसे कीसियन अर्थशास्त्र के नाम से जाना जाता है। इस प्रक्रिया में कई कीसियन अर्थशास्त्री अपने गुरु के विचारों के परे भी चले गये हैं। नतीजे के तौर पर आज कीसियन विरासत कई भागों में विभक्त हो चुकी है।

क्लासिकल इकॉनॉमिक्स के समष्टिगत मॉडल की आलोचना करने के लिए कीस ने अल्फ्रेड मार्शल द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की भी मदद ली। समष्टिगत मॉडल से व्यष्टिगत मॉडल तक पहुँचने के लिए मार्शल द्वारा किया गया माँग और आपूर्ति का विश्लेषण उनके काम आया। दरअसल, कीस ने अपने विश्लेषण में कई अवधारणाओं का सृजनात्मक उपयोग किया है। जैसे, रोज़गार और आमदनी के विस्तार का अनुपात (मल्टीप्लायर), उपभोग के प्रकार्य, अर्थव्यवस्था में तरलता (नकदी) की स्थिति और पूँजी की सीमांत दक्षता।

कीस का एक महत्वपूर्ण योगदान अल्पावधि के अर्थशास्त्र का प्रवर्तन भी है। अपनी एक रचना *अ ट्रैक्ट ऑन मोनेटरी रिफॉर्म्स* (1923) में उन्होंने उन अर्थशास्त्रियों की आलोचना की थी जो तूफ़ान के गुज़र जाने का इसलिए इंतज़ार करने की सलाह देते हैं कि बाद में तो समुद्र समतल हो ही जाएगा। कीस का कहना था कि तत्कालीन समस्याओं के हलों की तजवीज़ करना भी तो अर्थशास्त्र का ही काम है, न कि उन्हें दीर्घकालीन रुझानों के नाम पर नजरंदाज कर देना। कीस ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि 'दीर्घावधि के चक्कर में रहे तो हम सभी का अंत हो जाएगा।' कीस ने आर्थिक विज्ञान में समय के महत्व पर विशेष जोर देते हुए व्यक्ति के उपभोग की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया और पता लगाने की कोशिश की कि वह किन आधारों पर भविष्य में उपभोग करने का निर्णय लेता है : व्यक्ति आगे चल कर अपनी चालू आमदनी में से खर्च करना चाहेगा या अपनी बचत में से।

कीसियन अर्थशास्त्र के एक शुरुआती व्याख्याता लारेंस क्लीन कीस द्वारा प्रतिपादित प्रभावी माँग के सिद्धांत को आर्थिक विज्ञान में क्रांति का वाहक मानते हैं, क्योंकि इसके ज़रिये उत्पाद के सकल स्तर का निर्धारण किया जा

सकता है। दरअसल, कीस के पहले अर्थव्यवस्था व्यक्तियों, परिवारों और फ़र्मों के अध्ययन पर केंद्रित रहती थी, जबकि कीस के बाद समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सकल आकलन पर जोर दिया जाने लगा। निपट व्यक्तिवादी एकल-इकाई केंद्रित (माइक्रो) अर्थशास्त्र को सकल अर्थव्यवस्था-केंद्रित अर्थशास्त्र से जोड़ कर कीस ने नव-क्लासिकी अर्थशास्त्र को एक अति-काल्पनिक नज़रिये से मुक्त करके वस्तु-जगत से जोड़ा। कीस के बाद से यह भी माना जाना लगा कि रोज़गार के क्षेत्र में अर्थव्यवस्थाएँ लाज़मी तौर पर एक अस्थायी बेरोज़गारी का शिकार रहेंगी।

लोकोपकारी राज्य के उत्थान में भी कीसवाद की भूमिका रही है। चूँकि कीसवाद राजकोषीय उपायों द्वारा सरकार द्वारा ऐसे कार्यक्रम चलाने पर जोर देता है जिनसे माँग बढ़े और रोज़गार के अवसर पैदा हों, इसलिए वह आर्थिक जीवन में राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप को सकारात्मक दृष्टि से देखता है। चूँकि सरकार को अपने निर्माण कार्यक्रम चलाने के लिए धन की ज़रूरत पड़ती है इसलिए उसे ज़्यादा टैक्स लगाने पड़ते हैं। लोकोपकारी राज्य के इस कीसवादी फ़ार्मूले की प्रतिक्रिया में कराधान की निचली दर और माँग के बजाय निश्चित मौद्रिक नीति को केंद्र बना कर अर्थव्यवस्था के प्रबंधन की थीसिस उभरती है।

कीसवाद अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कई नये विचारों का जनक माना जाता है। इनमें एक विचार परम्परा को नवकीसवाद और दूसरे को उत्तर-कीसवाद की संज्ञा दी जाती है। नवकीसवाद स्थिर दामों और वेतन के साथ-साथ पूर्ण रोज़गार उपलब्ध करने में विफलता के अंदेसे को तो कीसियन विरासत से ग्रहण करता है, पर इसके बात वह नियोक्लासिकल पद्धति की इस मान्यता की तरफ़ झुक जाता है कि आर्थिक कर्त्ता मुख्यतः सुसंगत व्यवहार करते हैं। अर्थव्यवस्था में सामान्य संतुलन के सिद्धांत का इस्तेमाल करते हुए नवकीसवादी समष्टिगत अर्थशास्त्र की व्यष्टिगत (माइक्रो) बुनियादों पर जोर देते हैं। बाज़ार को मुख्यतः प्रतियोगितामूलक मानने के बजाय वे उसे इजारेदारी की ताकत से प्रभावित मानने के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कीसवाद को नियोक्लासिकल सिद्धांतों के मुताबिक़ दोबारा रचने की इन कोशिशों को काफ़ी आलोचना का शिकार भी होना पड़ा है। आरोप लगाया जाता है कि कीस के ही कुछ अनुयायियों ने नियोक्लासिकल सिद्धांतों का प्रयोग करके उनके अर्थशास्त्र के क्रांतिकारी पहलुओं की धार कुंठित कर दी है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख

मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम।

संदर्भ

1. एल.आर. क्लीस (1952), *द क्रीसियन रेवोल्यूशन*, मैकमिलन, लंदन.
2. डी. लेडलर (1999), *फ़ेब्रीकेटिंग द क्रीसियन रेवोल्यूशन : स्टडीज़ ऑफ़ द इंटर-वार लिटरेचर, मनी, द साइकिल ऐंड अनएम्प्लॉयमेंट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. ए. लीजनहुफ़वुड (1968), *ऑन क्रीसियन इकॉनॉमिक्स ऐंड द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ क्रीस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

कुमार आशान्

(Kumaran Aashan)

भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत के रूप में मलयालम के महाकवि नारायण कुमार आशान् (1873-1924) अग्रगण्य हैं। स्वामी विवेकानंद और श्री नारायण गुरु के विचार-दर्शन का अनुपालन करने वाले आशान् के तार्किक गद्य ने मलयालीभाषियों को जाग्रत किया, पिछड़ी जातियों का मनोबल बढ़ाया और उनकी हीनता-ग्रंथि खत्म करने का प्रयास किया। आशान् ने तीन प्रसिद्ध महाकाव्यों की समीक्षाएँ लिखीं : वल्लत्तोल के *चित्र-योगम्*, उल्लूर-परमेश्वर नायर के *उमा केरलम्* और पंतलम केरल वर्मा के *रुक्मांड चरितम्* की। इन समीक्षाओं ने केरल में समीक्षा का स्तर ऊँचा करते हुए संस्कृत-काव्यशास्त्र के अंधानुकरण का विरोध किया। अपनी ऐसी विशेषताओं के कारण ही वल्लत्तोल के बाद कुमार आशान् को महान कवियों की परम्परा में स्थान दिया गया है। आशान् ने अपनी सतत रचनाशीलता से परम्परा को नया रूप दिया और समाज-दर्शन को चिंतन के नये पंख प्रदान किये। निम्न समझी जाने वाली जातियों को जाति-बंधनों से मुक्ति दिलाने के लिए ही वे जन्मे थे। नारायण गुरु की प्रेरणा से बने संगठन श्री नारायण धर्म परिपालम योगम् (एस.एन.डी.पी. योगम्) के महासचिव के रूप में आशान् ने सामाजिक न्याय की मुहिम में अगुआ भूमिका निभायी। आशान् तथा उनकी टोली ने योगम् का दफ़्तर तिरुवनंतपुरम् में स्थापित किया और केरल के कोने-कोने में यात्राएँ कीं। जन-जागरण के लिए उन्होंने *विवेकोदयम्* नामक पत्र का सम्पादन किया जिसने बाद में *एज़वा गज़ट* के रूप में पहचान

बनायी। साहित्यिक-राजनीतिक सामग्री से सम्पन्न और स्वामी विवेकानंद के नाम से प्रेरित प्रभावित *विवेकोदयम्* ने केरल के समाज के लिए अपने नाम की सार्थकता सिद्ध की।

उन्नीसवीं शताब्दी का केरल जातिवाद, अस्पृश्यता और अन्य कुटिल संकीर्णताओं से जूझ रहा था। ब्राह्मण-शूद्र के बीच की खाई इतनी चौड़ी थी कि उसे पाटना मुश्किल था। अछूत जातियों के भीतर अनेक उपजातियाँ थीं। इन्हीं में से एक एज़वा जाति में कुमार आशान् का जन्म हुआ। तिरुवनंतपुरम् से तीस मील दूर प्रकृति की गोद में बसे कमिकूरा नामक गाँव के अधिकतर एज़वा निवासी अज्ञान और दरिद्रता से बेहाल थे। आशान् के पिता नारायण छोटा-मोटा व्यापार करके जीवन यापन-करते थे और माँ कालियम्मा पौराणिक कथाओं में पारम्गत थीं। छह पुत्र और दो पुत्रियों के बीच कुमारन् दूसरी संतान थे।

बचपन में कुमारन् गाँव की घास-फूस की पाठशाला में भेजे गये जहाँ बच्चे अपनी चटाई बैठने के लिए लाते थे। मास्टर वर्णमाला के अक्षरों को ताड़पत्र पर लिखता था और बच्चे बालू पर तर्जनी से। कुमारन् सात वर्ष की अवस्था में स्कूल गये तो वहाँ औषधि, मंत्र-विद्या और ज्योतिष के पण्डित को पाया। इस अध्यापक का उनके बालपन पर अमित प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव के रंग कभी फीके नहीं पड़े। कुछ समय बाद कुमारन् एक प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ कोम्यरामन् वैद्य के शिष्य बन गये। उनकी प्रेरणा से उन्होंने *अमरकोष*, *सिद्धरूप*, *श्री समोदांत*, *कृष्णविलास*, और *रघुवंश* का निकट से पाठ किया। उन्होंने माघ कवि की रचना *शिशुपालवध* के कुछ भाग का भी अध्ययन किया। इस तरह उनके संस्कारों को निर्मित करने में संस्कृत साहित्य का बड़ा हाथ रहा। गाँव की पाठशाला से ही उन्होंने चौदह वर्ष की उम्र में विशेष योग्यता के साथ परीक्षा उत्तीर्ण की और वहीं पर अध्यापक हो गये। मलयालम में अध्यापक को 'आशान्' कहते हैं। इसलिए उनका नाम पड़ा कुमारन् आशान्। आगे पढ़ने की इच्छा से आशान् ने संस्कृत पाठशाला विज्ञान संदापनी में नाम लिखवाया। सोलह वर्ष की अवस्था में आशान् पदों की रचना करने लगे। विद्या के प्रति गहन अनुराग का ही नतीजा था कि उन्होंने *कवि भारतम्* का उद्देश्य समझा और *महाभारत* के प्रमुख पात्रों पर ध्यान दिया। *कवि रामायण* की रचना की और सर्जन-शक्ति का विस्तार किया। आशान् ने भास के *मालती माधव*, श्री हर्ष के *नैषधचरितम्*, कालिदास के *अभिज्ञान शाकुंतलम्* के साथ प्रसिद्ध *कुवलयानंद* का भी अध्ययन किया। प्रतिदिन पद्यों की रचना का अभ्यास करते हुए उन्होंने लय और छंदशास्त्र के संगीत पर ध्यान केंद्रित किया। उन्होंने छंदों को सिद्ध किया और जीवन में मानव तथा प्रकृति सौंदर्य के दर्शन को समझने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कुमारन् ने पद्यों के साथ *उषा-कल्याणम्* (नाटक) तथा *वल्ली विवाहम्*



नारायण कुमारन् आशान् (1873-1924)

(आंचलिक कथा) लिखी।

केरल की पिछड़ी एझवा जाति बड़े अपमान में जी रही थी। पाठशालाओं में उसका प्रवेश वर्जित था। एझवा लोग मंदिर के पास तक फटकने नहीं दिये जाते थे। सरकारी नौकरियों पर ऊँची जाति के लोगों का ही कब्जा था। एझवाओं का काम खेती करना, ताड़ी बनाना और कपड़ा बुनना रह गया था। इस स्थिति से उबरने के लिए 1896 में ट्रावणकोर के राजा को तेरह सौ एझवाओं ने हस्ताक्षरित प्रार्थना-पत्र दिया जिसे लौटा दिया गया और कोई सुनवाई नहीं हुई। सामाजिक आर्थिक रूप से संघर्ष करते इस समुदाय के भीतर उसी समय सांस्कृतिक-सामाजिक नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन की लौ में तपे हुए श्रीनारायण गुरु (1856-1928) का उदय हुआ। नारायण गुरु ने सभी जातियों के लिए सर्वोदय की ज्योति जलायी। उनकी विचारधारा आध्यात्मिक न होकर सामाजिक थी। उन्होंने हिंदू-शास्त्रों के कई पक्षों को अस्वीकार किया और प्रश्न किया कि शूद्र को संन्यासी बनने तथा मंदिर में प्रवेश पूजा का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए? नारायण गुरु के नेतृत्व में सामाजिक अन्याय के खिलाफ केरल में एक बड़ा सामाजिक आंदोलन खड़ा हुआ। पूजा के लिए एझवाओं की मूर्तियाँ बनवा कर मंदिरों में स्थापना की गयी जिसकी ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई। द्विजों ने शिव मंदिरों में मूर्ति रखने को लेकर जम कर उपद्रव किया। इस पर नारायण गुरु का उत्तर था कि वे तो मंदिरों में एझवा-शिव की स्थापना कर रहे हैं ब्राह्मण-

शिव की नहीं। उनका कहना था कि किसी भी जाति-धर्म-सम्प्रदाय के सभी मानवों के लिए एकमात्र आश्रय ईश्वर है। इन महान नारे ने एक बड़ी सामाजिक-क्रांति का सूत्रपात किया। नारायण गुरु को जनता ने स्वामी कहना शुरू कर दिया। 15 मई, 1903 को नारायण गुरु की प्रेरणा से श्री नारायण धर्म परिपालन योगम् नामक संगठन की स्थापना की गयी। एस.एन.डी.पी योगम् नाम से प्रचलित इस संगठन द्वारा जन जागरण-चेतना का गौरवशाली इतिहास है।

स्वामी नारायण गुरु के विचारों का कुमारन् आशान् पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय कुमारन् केवल अठारह वर्ष के थे। स्वामीजी भी आशान् की ओर आकृष्ट हुए। दोनों का यह मिलन स्वामी रामकृष्ण परमहंस का विवेकानंद से मिलन जैसा था। कुमारन् आशान् के लिए तो यह मिलन परिवर्तनकारी-क्रांतिकारी साबित हुआ। कुमारन् की तमिल-संस्कृत में गहरी रुचि थी, लेकिन अब वे मलयालम में भक्तिपूर्ण कविताओं की रचना करने लगे। इसी काल में उन्होंने *सुब्रह्मण्यम शतकम्* और *भक्त-विलायम्* काव्यों का सृजन किया। आशान् की इन कविताओं को सुन कर स्वामी अति-प्रसन्न हो जाते थे! धीरे-धीरे कुमारन् वेदांत की ओर झुकते गये। एक समय ऐसा भी आया जब नारायण गुरु ने आशान् को अपने आश्रम अरविपुरम में बुलाया। आशान् गये और स्वामीजी के शिष्य बन कर वहाँ तीन वर्ष व्यतीत किये। नेय्यार नदी के किनारे धूनी लगाकर अभंग समाधि का सुयोग पाया। आशान् ने अपने सम्पादन में निकलने वाले *विवेकोदयम्* पाक्षिक पत्र के एक अंक में इस स्थान का बड़ा ही काव्यात्मक वर्णन किया है। अनेक लोग उन्हें 'छोटे योगी' कहने लगे। आशान् ने वेदांत की अनेक पुस्तकें एकाग्रभाव से पढ़ीं और इसी काल में *शिवस्त्रोतमाला* की रचना की। अपने गुरु की तरह वे भी शिवभक्त हो गये।

प्रसिद्ध चिंतक डॉ. पल्यू के परिवार ने भी कुमारन् को स्वीकार कर लिया। यह उनके जीवन की प्रमुख घटना थी। कुमारन् श्रीधाम राजेंद्र संस्कृत कॉलेज में दाखिल हो गये। बंगलौर का यह कॉलेज द्विजों के लिए ही था, यहाँ तक कि राज्य के लिंगायत तक वहाँ प्रवेश नहीं पाते थे। कॉलेज में केवल आशान् ही अ-द्विज विद्यार्थी थे। यह नये तरह का जीवनानुभव था। आशान् ने इस कॉलेज में तीन वर्ष तक अध्ययन किया। वहाँ भी एक शूद्र द्वारा वेद और शास्त्र पढ़ने का भारी विरोध हुआ। अंततः विवश आशान् को कॉलेज छोड़ना पड़ा। आशान् के कवि मानस पर इस घटना से बड़ा आघात लगा और वे वर्णवादी क्रूर जाति व्यवस्था के दाँत उखाड़ने का संकल्प करने लगे। अपमान की चोट सह कर आशान् छह महीने मद्रास रहे और बाद में कलकत्ता चले गये। उन्होंने कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज में न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। काव्य और व्याकरण को समझने का कौशल

बढ़ाया तथा तर्क-तीर्थ की परीक्षा दी। कलकत्ता में ही उन्होंने अंग्रेजी और बांग्ला साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया और रवींद्रनाथ ठाकुर से प्रभावित हुए। रवींद्रनाथ पर वे इतने मुग्ध थे कि उन्होंने 'दिव्य कोकिलम्' शीर्षक से कविता की रचना की जिसे उन्होंने कविगुरु की केरल यात्रा (1922) के समय पढ़ कर सुनाया और 'स्वागत-पंचमम्' के पाँच संस्कृत पद्य रवींद्रनाथ को आलुवा के अद्वैताश्रम की यात्रा के समय भेंट किये। कुछ समय बाद बंगाली, कन्नड़ और मलयाली रचनाकारों के सम्पर्क में आकर उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का मर्म समझा और शेली, कीट्स और ब्राउनिंग के सृजन का आस्वादन किया। अंग्रेजी का रूढ़ि विरोधी स्वच्छंदतावादी आंदोलन उनकी मानसिकता के अनुकूल पड़ा। अंग्रेजी-साहित्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने डायरी और कविताओं की रूपरेखा आदि चीजें अंग्रेजी में ही लिखीं। कहते हैं कि उनमें अंग्रेजी प्रेम ऐसा उमड़ा कि ट्रावणकोर की सभाओं में अंग्रेजी में ही भाषण देते नज़र आये।

आशान् की 1908 की कविता 'ओरु वीण पूवु' (एक झरा हुआ फूल) भले ही नया काव्य-सृजन-प्रयास हो, किंतु इसमें सामाजिक-सुधार और प्रेम-विस्तार का रूप निखरकर सामने आया। यह कविता मलयालम के नवीन-सृजन-प्रस्फुटन को व्यंजित करती है। कविता में नवीन विदग्धताएँ पाठक के लिए मोहक हैं। एक झरे हुए फूल पर कविता लिखना एक दार्शनिक चेतना है। 'वीण पूवु' एक विलाप-काव्य है, एक व्यक्ति का नहीं, सभी का विलाप-काव्य है। पूरी कविता प्रतीकात्मक है। इसमें आशान् के जीवन का बिम्ब है और कथन-शैली पर पाश्चात्य प्रभाव है। मलयालम कविता आशान् से पहले ही पश्चिमी कविता-कला के प्रभाव में आ चुकी थी। आशान् ने उसी को एक नया रूप दिया। समकालीन कवि उल्लूर और परमेश्वर नारायण स्वयं इस प्रभाव से दूर न थे, लेकिन आशान् की इस कविता ने मलयालम-साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात किया।

आशान् ने 1901 में *सौंदर्य लहरी* का अनुवाद किया, और अगले साल *शिवस्तोत्रमाला* का भी। *मेघदूतम्* का एक अधूरा अनुवाद करके कालिदास की सौंदर्य-लय को गहने उन्होंने रुचि दिखाई। आशान् ने *विचित्र विजयम्* और *प्रबोधचंद्रोदय* जैसे नाटकों का अनुवाद किया। इस तरह उनके जीवन में 1902 का वर्ष अनुवाद-कर्म के लिए अपूर्व रहा। *विचित्र विजयम्* भक्ति-स्रोतों पर आधारित नाटक है जिससे दक्षिण में भक्ति प्रवाह का संकेत मिलता है। संस्कृत भाषा, संस्कृत छंद और संस्कृत काव्यशास्त्र में आशान् की विशेष रुचि थी। उनकी संस्कृत-मलयालम मिश्रित भाषा का खमीर सर्जना में नया सौंदर्य पैदा करता है। *शिवस्तोत्रमाला* के पद्यानुवाद के साथ कवि आशान् ने एक ज्ञान-संवेदना जाग्रत करने वाली भूमिका लिखी है। आशान् ने अपने अनुवादों से

मलयालम साहित्य को बहुत कुछ दिया। उन्होंने सर एडविन आरनॉल्ड की कृति *लाइट ऑफ़ द एशिया* का *बुद्ध चरित्र* नाम से अनुवाद किया। हिंदी में इस कृति का अनुवाद रामचंद्र शुक्ल ने किया है। वाल्मीकि रामायण पर आधारित कवि की कृति *बाल रामायण* छायानुवाद है, सर्जनात्मकता से परिपूर्ण। विवेकानंद के *राजयोग* का भी उन्होंने अनुवाद किया है।

आशान् 1902 से ही सामाजिक जागरण के लिए समर्पित हो गये थे। उनके मन में ब्रह्मचारी और संन्यासी के जीवन-पथ को लेकर भी तनाव रहा। आखिरकार एक दिन पैतालीस वर्ष के कवि ने सत्रह वर्ष की युवती से विवाह किया जो उनकी शिष्य थी। भानुमती ने कुमारन् से प्रेम किया और कवि के जीवन को बदल दिया। आशान् तो नारायण गुरु के उत्तराधिकारी थे अतः यह विवाह काफ़ी चर्चा में रहा। एक ख़ास अर्थ में विवाह उनके जीवन का परिवर्तन-बिंदु था। आशान् ने 'कुपिल' या 'कोकिल' कविता का 1918 में सृजन किया जो उनके ऊपर किये गये दोषारोपणों का उत्तर था। 1919 में उन्होंने अपनी सर्जनात्मकता का विस्तार 'प्ररोदनम्' और 'सीता' काव्यों की रचना में किया। 'प्ररोदनम्' विलाप-काव्य है जो ए.आर. राजराज वर्मा (1863-1918) पर केंद्रित है। एक समय था राजराज वर्मा ने आशान् की लम्बी कविता 'नलिनी' की भूमिका लिखी थी। वे दोनों 'सखा' थे। आशान् ने राजराजवर्मा की आत्मा को स्वर्ग पहुँचा कर उनकी मुलाकात कालिदास-भारु से करवायी है। केरल भाषा (कैरली) को सांत्वना देने के लिए वहाँ सरस्वती भी प्रकट होती हैं। यह बात भी हमारा ध्यान खींचती है कि आशान् ने अंग्रेज़ी-कविता में एलेजी के रूप को विलाप-काव्य में ढालने का काम किया।

'सीता' आशान् का बहुचर्चित काव्य है। इसका पूरा नाम है 'चिंता विष्टथाय सीता' अर्थात् चिंतामग्न सीता। इसमें *रामायण* की कथा के शक्तिशाली अंशों को सीता के माध्यम से अभिव्यक्ति दी गयी है। 1919 से पाँच साल तक आशान् इस कविता के अस्सी पद ही रच सके। शेष 112 पद बाद में रचे गये। कहा जाता है कि आशान् को रविवर्मा द्वारा चित्रित सीता से सृजन-प्रेरणा मिली। आशान् की सीता असाधारण है और उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का चरम शिखर है। सीता का विचार में डूबा व्यक्तित्व नारी छवि का अलग ऐकांतिक संसार चित्रित करता है। विचारों में डूबी हुई सीता आश्रम के निकट एक उद्यान में बैठी जीवन-प्रसंगों का स्मरण कर रही है। वहाँ स्मृति ही इतिहास है, स्मृति ही परम्परा है। आशान् की सीता ने राम से अनेक असुविधाजनक प्रश्न किये हैं। इन प्रश्नों को लेकर भी आलोचकों का एक वर्ग आशान् की कठोर आलोचना करता है। यह भूलकर कि आशान् ने चेतन और अवचेतन मन की परतों को खोला है। ऐसा विस्मय, विमुग्धकारी चिंतन मलयालम साहित्य में दुर्लभ है। यह

एकालापी काव्य है, जिसमें गीत-काव्य की गरिमा का महाकाव्योचित औदात्य पैदा हुआ।

आशान् महाकाव्य की रचना करने को कभी लालायित नहीं रहे। उन्हें ज्ञान था कि आधुनिक काल का परिवेश और संवेदना महाकाव्य की रचना के अनुकूल नहीं है। जीवन की यातनाओं ने आशान् को इतना रौंदा कि जीवन के अंतिम दिनों में 'दुखस्था' और 'चाण्डाल भिक्षुकी' रचने को विवश हुए। 'दुखस्था' एक मुसलिम विद्रोह की कथा पर केंद्रित कविता है। हिंदू-मुसलमान दंगों से पीड़ित एक नम्बूद्री स्त्री घर से भाग जाती है और पुलया नवयुवक की झोपड़ी में शरण पाती है। उच्चजाति की स्त्री, निम्नजाति के नवयुवक से विवाह करती है। कवि हिंदू शास्त्रों को अगूँठा दिखाता है और शास्त्र-नियम बदलने का संदेश देता है। इस कविता में आशान् सामाजिक-क्रांति के बीज बोते हैं। उसके बाद 'चाण्डाल भिक्षुकी' भी जाति-भेद को समाप्त करने का संदेश है। कविता का ढाँचा बौद्ध कथा में से लिया गया है। तथागत के शिष्य आनंद दोपहर में एक बरगद की छाया में विश्राम पाते हैं। उसी समय मातंगी नाम की चाण्डाल स्त्री कुएँ से पीने का पानी लेने आती है। वहाँ भिक्षुक उससे पानी माँग रहा है, अब वह चाण्डाल स्त्री करे क्या! वह पानी पी लेता है। उस स्त्री को भगवान बुद्ध शिष्या के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इस घटना से उच्चवर्ग के लोग नाराज हो जाते हैं और धर्म-विरुद्ध कह कर राजा के पास जाते हैं। कुमारन् आशान् ने कविता की इस वस्तु को प्रबंध वक्रता के प्रयोग से नया रूप दिया है। 'दुखस्था' और 'चाण्डालभिक्षुकी' पिछड़ी जातियों की दुःख भरी गाथाएँ हैं।

भारतीय दलित-साहित्य में इस सांस्कृतिक नवजागरण के कवि को उतना सम्मानित स्थान नहीं मिला जितना मिलना चाहिए। उन्होंने हिंदू और मुसलमान दोनों के भयंकर क्रोध का सामना करते हुए भी कभी निराशा का अनुभव नहीं किया। भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन के लिए आशान् का अविस्मरणीय योगदान है। आशान् की अंतिम महत्वपूर्ण कृति 'करुणा' में वासवदत्ता-उपगुप्त की कथा को लिया गया है। इसका मूल स्रोत 'बौधिसत्वयतन कल्पलता' है। नृत्यगायन और अन्य कलाओं में प्रवीण वासवदत्ता मथुरा की एक प्रसिद्ध वेश्या है। इस रूपसी के चरण में धनवान न्यौछावर हो रहे हैं, किंतु वह बुद्ध के शिष्य उपगुप्त की ओर आकृष्ट होती है जो धन और अन्य सुखों को तिलांजलि दे चुके हैं। रूपजीवा वासवदत्ता उन्हें अनेक प्रकार से लुभाती है और विफल रहती है। निराश वासवदत्ता एक सेठ से प्रेम करके कुमार्ग का वरण करती है। उसका पूर्व प्रेमी-शिल्पकार नायक है। दोनों में कलह होती है और फिर एक ही हत्या। वासवदत्ता को दण्ड मिलना और उपगुप्त का प्रकट होना घटना है। 'करुणा' एक सुविख्यात कृति है और मलयालम

भाषी जनता का कंठहार। समय-समय पर इस कलाकृति का मंचन किया जाता है। यह एक ऐसी कलाकृति है जो उच्च और सामान्य, दोनों तरह के पाठकों को मोह लेती है।

देखें : काजी नज़रुल इस्लाम, कुमारन् आशान्, गजनान माधव मुक्तिबोध-1 और 2, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, फ़क्रोर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, वल्लतोल नारायण मेनन, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. शिशिर कुमार दास (सम्पा.), *इंटीग्रेटेड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर*, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.
2. के.एम. जॉर्ज (1976), कुमारन् आशान् (भारतीय साहित्य के निर्माता सीरीज़), साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.
3. कुमारन् आशान् की सम्पूर्ण कृतियाँ (1960) (तीन भाग), कविता समिति का प्रकाशन.
4. *आशान् कविता* (1980), आशान् अकादेमी, तिरुवनन्तपुरम.

—कृष्णदत्त पालीवाल

क्यूबा की क्रांति

(Cuban Revolution)

पचास के दशक के आखिरी वर्ष में घटित हुई क्यूबा की सशस्त्र क्रांति अमेरिकी साम्राज्यवाद पर राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद के गठजोड़ की विजय के तौर पर जानी जाती है। इस क्रांति का नेतृत्व फ़िदेल कास्त्रो के संगठन '26 जुलाई मूवमेंट' के हाथों में था। सारे विश्व के वामपंथी युवाओं को अनुप्राणित करने वाली चे गुएवारा जैसी हस्ती इसी क्रांति की देन थी। 1 जनवरी, 1959 को क्रांति की सफलता के कारण क्यूबा के तानाशाह फुलगेनसियों बतिस्ता को देश छोड़ कर भाग जाना पड़ा, और युवा छापामार योद्धाओं ने सत्ता पर कब्जा कर लिया। क्रांति की यह प्रक्रिया अपने अनुठेपन के कारण हथियारबंद तरीकों से सत्ता पर कब्जा करने की एक विशिष्ट विधि के रूप में चर्चित हुई। इसके पैरोकारों ने दावा किया कि प्रतिबद्ध छापामारों का दल क्रांति सम्पन्न कर सकता है और उसके लिए व्यापक जनता को गोलबंद करने या उनकी राजनीतिक चेतना उन्नत करने के लिए दीर्घकालीन



फ़िदेल कास्त्रो के नेतृत्व में छापाकार क्रांतिकारियों का दल

प्रयास करना एक पूर्व-शर्त नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने क्यूबा में फ़िदेल कास्त्रो के शासन को अपदस्थ करने की कई कोशिशें कीं, लेकिन वह नाकाम रहा। धीरे-धीरे क्यूबा न केवल उत्तरी अमेरिका में बल्कि सारी दुनिया में अमेरिका विरोध का ध्रुव बनता चला गया। नब्बे के दशक में सारी दुनिया में समाजवादी खेमा ढह जाने के बावजूद क्यूबा में कम्युनिस्ट शासन आज तक जारी है।

क्यूबा की क्रांति का मूल उसके औपनिवेशिक अतीत में निहित है। लातीनी अमेरिका के अधिकतर देशों ने 1810-25 के बीच स्पेनी (और पुर्तगाली) उपनिवेशवाद से आजादी हासिल कर ली थी। लेकिन क्यूबा 1898 तक स्पेनी उपनिवेश बना रहा। इस तरह यह अमेरिकी महाद्वीप में सबसे अंत में आजाद होने वाला देश था। अंततः इसे जोसे मार्टी के नेतृत्व में हुए दूसरे स्वतंत्रता संग्राम (1895-98) में आजादी तो हासिल हुई, लेकिन स्वतंत्रता सेनानियों का सत्ता पर कब्जा नहीं हुआ। क्यूबा रणनीतिक नज़रिये से संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण था। इसके अलावा यहाँ होने वाली गन्ने की खेती पर भी अमेरिका की नज़र थी। इसलिए अमेरिका ने यहाँ की राजनीति में खुल कर दिलचस्पी ली और अपने हित साधने के लिए तैयार शासकों को समर्थन दिया। इस प्रक्रिया में क्यूबा की स्थिति ऐसी हो गयी जैसे एक औपनिवेशिक शासक की जगह दूसरा औपनिवेशिक शासक आ गया हो। इस घटनाक्रम का परिणाम यह निकला कि क्यूबा का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन अमेरिका के प्रभाव और नियंत्रण के खिलाफ संघर्ष बन गया।

1933 के आंदोलन को क्यूबा की क्रांति के विकास के अगले अध्याय के रूप में देखा जाना चाहिए। इसने स्वतंत्रता के संघर्ष में एक नये चरण की ओर संकेत किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस आंदोलन ने खुद को श्रमिक वर्ग के संगठन और समाजवादी परम्परा के संदर्भ में परिभाषित किया। इस आंदोलन के कारण ही कुछ समय के

लिए क्यूबा में प्रगतिशील सरकार बनी। लेकिन इसके थोड़े ही समय बाद सत्ता बतिस्ता के हाथ में आ गयी जिसने फिर से क्यूबा को अमेरिकी आर्थिक और राजनीतिक हितों से जोड़ दिया। दरअसल, बतिस्ता और उसके आंदोलन ने क्यूबा में जेराडो मकाडो की तानाशाही खत्म करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। 1933 में वह सेना का प्रमुख था। उस समय क्यूबा का शासन चलाने वाली पाँच सदस्यीय प्रेसीडेंसी पर उसका प्रभावकारी नियंत्रण था। 1940 तक दिखावटी राष्ट्रपतियों पर नियंत्रण रखने वाला बतिस्ता इसी वर्ष खुद राष्ट्रपति बन गया। उसने क्यूबा में नया संविधान लागू किया। वह अपने समय के हिसाब से प्रगतिशील था। 1944 में राष्ट्रपति के रूप में अपना कार्यकाल पूरा करने के बाद वह अमेरिका गया और 1952 में वापस आ कर राष्ट्रपति का चुनाव लड़ा। चुनावों में हारने के बाद बतिस्ता ने सेना की मदद से तख्तापलट करके 1952 में अपनी तानाशाही क्रायम कर ली।

बहरहाल, 1933 के घटनाक्रम के बाद राष्ट्रवादी राजनीति की धाराएँ उभरने लगी थीं। एक ओर आर्टोडॉक्स थे जो मार्टी की परम्परा पर जोर देते थे। दूसरी ओर, डायरेक्टोरियो रेवोल्यूशनरियो थे जो 1933 में हुए आंदोलन के नेता आंटोनियो गुटेरस से प्रभावित थे। ये दमनकारी राज्य के खिलाफ हिंसक कार्रवाई पर जोर देते थे। फ़िदेल कास्त्रो भी इसी विचार से प्रभावित थे, लेकिन उन पर मार्टी के जुझारू व्यक्तित्व का भी काफ़ी प्रभाव था। 1933 के बाद के दौर में क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी, जिसकी स्थापना 1925 में हुई थी, सोवियत यूनियन के प्रभाव में अपनी कार्यदिशा बदलती रही। 1935 के बाद वह बतिस्ता के साथ सहयोग करने लगी। इसलिए क्रांतिकारी राष्ट्रवाद पर विश्वास करने वाले फ़िदेल कास्त्रो जैसे युवक कम्युनिस्टों को संदेह की निगाह से देखने लगे। दूसरी ओर कम्युनिस्टों ने भी रैडिकल राष्ट्रवादियों की इस आधार पर आलोचना की कि वे वर्ग आधारित विश्लेषण के बजाय राष्ट्रवाद के नाम पर लोगों को संगठित करने की कोशिश कर रहे हैं।

1952 के बाद क्रांति की अगुआयी के लिए डायरेक्टोरियो और कास्त्रो के बीच नेतृत्व के लिए होड़ शुरू हो गयी जो आगे भी चलती रही। लेकिन इन दोनों में समानता यह थी कि ये दोनों ही 1933 के संघर्षों को अपनी बुनियाद मानते थे। 26 जुलाई, 1953 में आर्टोडॉक्सो समूह के युवकों ने सेना पर हमला किया। इस समूह में फ़िदेल कास्त्रो भी शामिल थे। यह हमला बेहद प्रभावशाली था और इसमें बतिस्ता की सेना के बहुत से जवान मारे गये। लेकिन इसके परिणामस्वरूप कास्त्रो और बाक़ी विद्रोहियों को गिरफ्तार भी होना पड़ा। बतिस्ता ने पकड़े गये विद्रोहियों में से कई को बहुत प्रताड़ित किया और बहुतों को मौत की सज़ा भी सुनायी

गयी। खुद कास्त्रो पर भी मुकदमा चलाया गया और उन्हें 15 साल की सजा दी गयी।

मुकदमे के दौरान कास्त्रो द्वारा अपने बचाव में दी गयी दलीलों का ऐतिहासिक महत्त्व है। उन्होंने देश में फैले भ्रष्टाचार पर हमला किया और 1940 के उदारतावादी संविधान को फिर से लागू करने पर जोर दिया। कास्त्रो ने छोटे किसानों को ज़मीन का पट्टा देने, विदेशी स्वामित्व वाली बड़ी सम्पत्तियों के राष्ट्रीयकरण और दूसरे देशों के लोगों के स्वामित्व वाले कारखानों में मज़दूरों को फ़ायदा देने जैसे कार्यक्रमों की माँग की। इसके अलावा कास्त्रो ने सार्वजनिक सेवाओं के राष्ट्रीयकरण, लगान में कटौती और शिक्षा में सुधार पर भी जोर दिया। इस तरह कास्त्रो ने क्रांति के बाद के क्यूबा की तस्वीर पेश की। फ़िदेल कास्त्रो और दूसरे बागी नेताओं के साथ हुए बरताव ने जन-आक्रोश को भी बढ़ाया। इसके विरोध में हुए विरोध प्रदर्शनों के कारण जुलाई, 1955 में एमनेस्टी लॉ का इस्तेमाल करके कास्त्रो को जेल से रिहा कर दिया गया। कास्त्रो इसके छह हफ़्ते बाद देश छोड़ कर मैक्सिको चले गये। लेकिन उन्होंने वायदा किया वे अपने संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए वापस आयेंगे। कास्त्रो के विदेश जाने के बाद भी उनके द्वारा बनाया गया संगठन सक्रिय रहा जिसे 26 जुलाई मूवमेंट (जे-26-एम) के नाम से जाना गया।

कास्त्रो का मक़सद बिल्कुल स्पष्ट था। वे नये सशस्त्र विद्रोहियों की फ़ौज तैयार करना चाहते थे। उन्हें भरोसा था कि क्रांतिकारियों की कार्रवाई से जन-विद्रोह पैदा होगा। इसी नज़रिये के तहत मैक्सिको में फ़िदेल कास्त्रो ने अपने हथियारबंद गुरिल्ला दस्ते तैयार करने की कोशिश की। इसके अलावा वे राजनीतिक गठजोड़ बनाने की कोशिश भी करते रहे। यहीं उनकी मुलाक़ात एक युवा दंत-चिकित्सक अर्नेस्टो चे गुएवारा से हुई। दोनों ही गुरिल्ला युद्ध द्वारा क्रांति करने की संकल्पना पर सहमत थे। दोनों को ही स्पेनिश युद्ध के वरिष्ठ योद्धा अलबर्टो बायो ने मैक्सिको में चाल्को के एक फ़ॉर्म में प्रशिक्षित किया। कास्त्रो और चे ने दिसम्बर, 1956 में मोटर विसेज ग्रेनमा से 82 गुरिल्ला लड़ाकों के साथ क्यूबा वापस आने की योजना बनायी।

लेकिन जब 3 दिसम्बर, 1956 को वे क्यूबा के तट पर पहुँचे तो इन्हें बतिस्ता के सैनिकों का सामना करना पड़ा। उनकी मदद के लिए जे-26-एम के शहरी इलाकों के सदस्य आये थे, लेकिन वे इंतज़ार करके चले गये क्योंकि कास्त्रो के छापामार निश्चित तारीख (30 नवंबर) के बजाय काफ़ी देर से पहुँचे थे। बतिस्ता के सैनिकों के हमले में अधिकांश गुरिल्ला लड़ाके मारे गये। लेकिन फ़िदेल, चे और फ़िदेल के छोटे भाई राउल कास्त्रो इस हमले में बच गये। तक़रीबन 15 दिनों के बाद घायल अवस्था में ये लोग सियेरा मेस्तरा के जंगलों में एक-दूसरे से मिले। उन्होंने शहर में जे-26-एम से

सम्पर्क क़ायम किया और जंगलों में ही गुरिल्ला लड़ाकों को इकट्ठा करना शुरू कर दिया। लेकिन यहाँ के ग़रीब किसानों को प्रशिक्षित क्रांतिकारी बनाना बहुत मुश्किल था। किसान कभी भी क्रांति का काम छोड़ कर खेती करने के लिए वापस जाने को तैयार रहते थे। या विरोधी खेमा उन्हें पैसे आदि का लालच देकर अपने पक्ष में खींच सकता था। चे गुएवारा के लिए यह ज़्यादा चिंता की बात थी। इसलिए उन्होंने सख्त अनुशासन तथा अनुशासन तोड़ने वाले को सख्त सजा देने पर जोर दिया। दूसरी तरफ़ एक समस्या यह भी थी कि क्यूबा में काम करने वाले दूसरे क्रांतिकारी संगठन, मसलन डायरेक्टोरियो और 26 जुलाई मूवमेंट, का शहरी नेतृत्व कास्त्रो और चे की गुरिल्ला योजनाओं से पूरी तरह सहमत नहीं था। क्यूबा कम्युनिस्ट पार्टी भी इनकी आलोचक थी। खुद चे और फ़िदेल के बीच भी कम्युनिस्ट लक्ष्यों को लेकर मतभेद था। चे का ज़्यादा जोर मार्क्सवाद की ओर था, जबकि कास्त्रो पर क्यूबाई राष्ट्रवाद का गहरा प्रभाव था।

बहरहाल, धीरे-धीरे जे-26-एम पर कास्त्रो खेमे का प्रभाव हो गया और इस दल के शहरी खेमे के नेता फ्रैंक पायस की 30 जुलाई, 1957 को हत्या कर दी गयी। अप्रैल 1958 में कास्त्रो ने अपने दल की ओर से पूर्ण युद्ध घोषणा-पत्र जारी किया। इसमें उन्होंने लोगों से अप्रैल, 1958 में आम हड़ताल करने का आह्वान किया। यद्यपि यह हड़ताल बहुत सफल नहीं रही, लेकिन इसने बतिस्ता के ख़िलाफ़ विरोध को और ज़्यादा बढ़ाया। इसके कारण कास्त्रो अन्य समूहों से ज़्यादा नज़दीकी सहयोग क़ायम करने के लिए प्रेरित हुए। 20 जुलाई को उन्होंने एकता घोषणा-पत्र जारी किया। इस पर डायरेक्टोरियो और जे-एम-26 सहित आठ संगठनों ने अपने हस्ताक्षर किये। लेकिन क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी ने इसमें शामिल नहीं हुई। बहरहाल, यह घोषणा-पत्र बतिस्ता के विरोधियों के एकजुट होने का भी प्रमाण था। इसमें लोकतांत्रिक और संवैधानिक अधिकारों को क़ायम करने की पूरी योजना पेश की गयी। यह घोषणा-पत्र एक तरह से इस बात का भी प्रमाण था कि बाक़ी विद्रोही समूह भी फ़िदेल कास्त्रो के नेतृत्व को स्वीकार करने लगे थे। धीरे-धीरे बतिस्ता की सत्ता पर पकड़ भी कमज़ोर होती गयी। नवम्बर में वैधता हासिल करने के लिए बतिस्ता शासन ने दिखावे के लिए चुनाव कराये। इन चुनावों में बड़े पैमाने पर धाँधली हुई, इसलिए इसके नतीजों को कोई वैधता नहीं मिली। बतिस्ता और विद्रोही समूहों के बीच बढ़ता टकराव दिसम्बर में चरम पर पहुँच गया। दिसम्बर, 1958 में कास्त्रो के सहयोगी चे ने सेंटा कालरा शहर में 350 छापामारों के साथ बतिस्ता के चार हज़ार गार्डों को तीन दिन की लड़ाई के बाद हरा दिया। इसमें चे ने रणनीतिक कुशलता का परिचय देते हुए उस ट्रेन को शहर में आने से रोक दिया जिसमें रक्षक दल के लिए हथियार आ रहे थे। सरकारी सेना हार गयी। इसके तीन दिन बाद 31

दिसम्बर, 1958 को बतिस्ता देश छोड़कर भाग गया।

बीसवीं सदी के इतिहास में क्यूबा की क्रांति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसने यह दिखाया कि किस तरह युवा लड़ाके गुरिल्ला छापामार युद्ध के द्वारा सत्ता में बदलाव कर सकते हैं। अमेरिका के विरोध के बावजूद क्रांतिकारी सफल हुए। अमेरिका ने क्रांति के बाद काफ़ी कोशिशें कीं लेकिन वह क्यूबा में फ़िदेल के शासन और प्रभाव को ख़त्म नहीं कर पाया। अमूमन क्यूबा की क्रांति में फ़िदेल, चे और उनके दल 26-एम जुलाई के योगदान पर ही ज़ोर दिया जाता है। लेकिन क्यूबा के भीतर के दूसरे समूहों, मसलन डायरेक्टोरियो ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। फ़िदेल कास्त्रो और उनका दल क्रांतिकारी राष्ट्रवाद द्वारा प्रगतिशील समाजवादी लक्ष्यों को हासिल करना चाहता था। लेकिन इस क्रांति और इसके बाद सामने आयी व्यवस्था में लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं और मूल्यों को कोई तरजीह नहीं दी गयी। चे ग्वेवारा ने बाद में क्यूबाई क्रांति के मॉडल को दूसरी जगहों पर भी लागू करने की कोशिश की लेकिन उन्हें नाकामी हाथ लगी।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. फ़ेरबर, एम. फ़ेरबर (2006), *द ऑरिजिन्स ऑफ़ द क्यूबन रिवोल्यूशन रिक्सीडर्ड*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, चेपल हिल.
2. वी. सिकेरका (2004), *फ़िदेल कास्त्रो*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. जे.स्विग (2002), *इंसाइड द क्यूबन रेवोल्यूशन : फ़िदेल कास्त्रो ऐंड द अंडरग्राउंड*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.

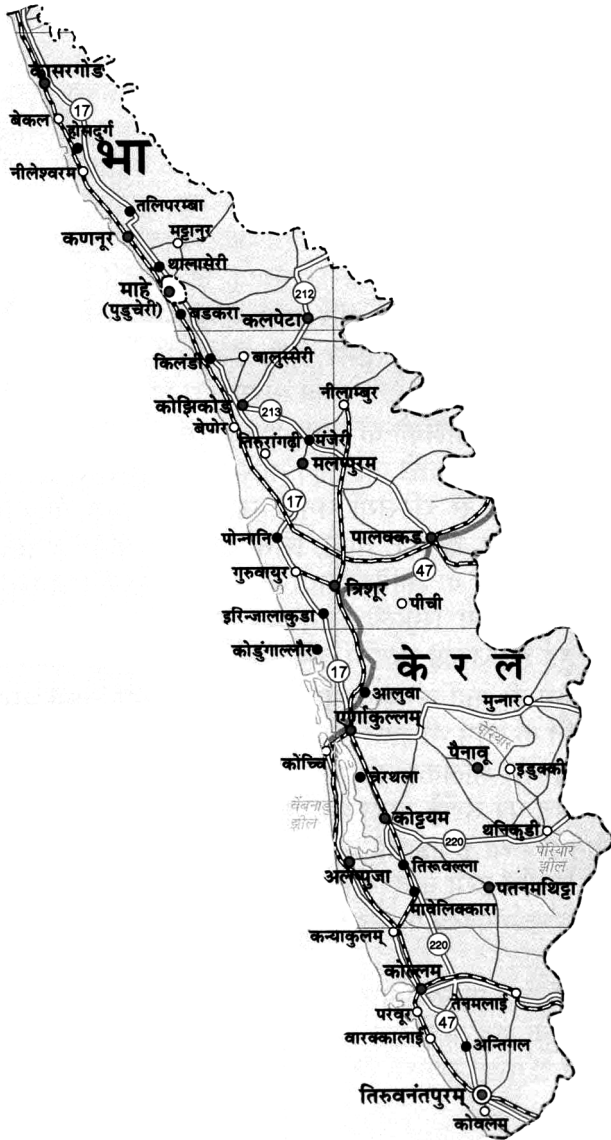
—कमल नयन चौबे

केरल

(Kerala)

केरल भारत का एकमात्र ऐसा राज्य है जहाँ की दलीय प्रणाली पिछले तीस साल से दो दलों की नहीं बल्कि दो टिकाऊ गठजोड़ों की होड़ पर टिकी है। सौ फ़ीसदी शिक्षा की दर वाले इस राज्य में राजनीतिक प्रतियोगिता की संरचना पश्चिमी लोकतंत्रों जैसी है। दलों के साथ मतदाताओं के जुड़ाव की भावना स्थायी और टिकाऊ है। दलीय निष्ठा समुदाय आधारित और पिछले कई दशकों से लगातार क्रायम है। अस्सी के दशक में विचारधारात्मक आधार पर केरल में यह द्वि-ध्रुवीय मॉडल कांग्रेस के नेतृत्व में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (यूडीएफ़) और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में लेफ़्ट डेमोक्रेटिक फ्रंट (एलडीएफ़) के रूप में शुरू हुआ था। केरल के राजनीतिक मतदाता हर विधान सभा चुनाव में वैचारिक आधार पर गठित इन दो गठबंधनों के बीच सत्ता की अदल-बदल करते रहते हैं। एक गठजोड़ लगातार दो बार चुनाव नहीं जीतता। 1956 में अपने गठन के बाद से लेकर 2011 तक इस राज्य में कुल 18 गठबंधन सरकारें बन चुकी हैं। गठजोड़ों की कामयाबी का यह केरलीय अनुभव देश के अन्य भागों के लिए मॉडल के रूप में पेश किया जाने लगा है। खास बात यह है कि दोनों गठबंधनों के घटक दलों को एक तरह का अलिखित 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' भी मिलता रहा है। चुनावी राजनीति कुछ इस तरह चलती है कि उन्हें आपस में सीटें बाँट लेने और अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों को चुन लेने का मौक़ा मिलता है। पिछले दस-पंद्रह साल ज्यादातर भारतीय राज्यों के लिए राजनीतिक अस्त-व्यस्तता से भरे रहे हैं, लेकिन केरल की राजनीति में स्थिरता रही है।

दो गठजोड़ों की इस राजनीति के कारण केरल में साम्प्रदायिक और जातिगत पहलू मज़बूत हुए हैं। इसमें स्वार्थ साधने के लिए एक गठजोड़ से दूसरे गठजोड़ में पाला बदलने का चलन भी शामिल है। शिक्षित मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार के बारे में प्रचलित है कि वे जाति या समुदाय के आधार पर वोट नहीं डालते, लेकिन केरल के वोटर शिक्षित होने के बावजूद जाति और समुदाय के आधार पर मतदान करते हैं। ऐतिहासिक रूप से इस राज्य में दो धार्मिक समूहों यानी मुसलमानों और ईसाइयों ने अपने-अपने धर्म-आधारित दलों का ही समर्थन किया है। मुसलिम लीग मुसलमानों के लिए और केरल कांग्रेस के विभिन्न धड़े ईसाइयों के लिए राजनीतिक दलों की भूमिका निभाते हैं। ये दल यूडीएफ़ से ज्यादा जुड़े रहते हैं। लेकिन एलडीएफ़ से भी इनका ताल्लुक है। कांग्रेस के मुकाबले वामपंथियों को अल्पसंख्यकों के बीच नुक़सान उठाना पड़ा है, लेकिन समाज सुधार और अन्य



केरल : दो गठजोड़ों की प्रतियोगिता

आंदोलनों में भागीदारी की बदौलत वामपंथियों का पिछड़ी हिंदू और दलित जातियों में मजबूत आधार बन गया है। खासतौर पर अधिसंख्यक एज़वाओं पर वामपंथी पार्टियों का गहरा प्रभाव है।

दरअसल, दोनों गठबंधनों का एकदम भिन्न संरचना वाला अपना-अपना सामाजिक आधार है जो तक्ररीबन बराबर क्रिस्म का है। लेकिन केरल की राजनीति में वर्ग की भूमिका कम करके नहीं आँकी जा सकती। यहाँ आधुनिकता और परम्परा के बीच एक प्रतियोगी क्रिस्म की अन्योन्यक्रिया हुई है

जिसने राजनीतिक व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डाला है। वामपंथी आंदोलनों की उपस्थिति ने भूमि सुधारों को ही दिशा नहीं दी है, बल्कि इसने खेतों एवं कारखानों में मजदूरों को ऊँचा वेतन दिलवाने में भी सफलता पायी है। वाम-आंदोलन ने विद्यार्थियों, युवाओं और सेवा क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाने के अतिरिक्त महिलाओं और मध्य वर्ग को संगठित करने में भी सफलता हासिल की है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि केरल में ऊँची जातियों के पारम्परिक प्रभुत्व का अंत हो गया है। सामाजिक परिवर्तनों ने कांग्रेस जैसी मध्यवर्ती पार्टी को भी रैडिकल बना दिया है। 1969 से यह पार्टी मजदूर वर्ग, अल्पसंख्यकों और युवाओं की ओर अधिकाधिक मुड़ी है।

भारत के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में स्थित केरल का राज्य के रूप में राज्य का गठन नवम्बर, 1956 में हुआ। इस राज्य का निर्माण उन क्षेत्रों को मिलाकर किया गया जहाँ मुख्य रूप से मलयालम बोली जाती थी। केरल शब्द दो मलयाली शब्द 'केरा' और 'अलम' से मिलकर बना है। 'केरा' का अर्थ होता है नारियल का पेड़ तथा 'अलम' मतलब स्थान। इस तरह केरल का अर्थ हुआ नारियल का स्थान। राज्य का कुल क्षेत्रफल 38,863 वर्ग किलोमीटर है। इसके उत्तर में कर्नाटक, दक्षिण और पूर्व में तमिलनाडु है। इसके पश्चिम में अरब सागर है। तिरुवनंतपुरम् (राजधानी), कोच्ची और कोझीकोड इसके प्रमुख शहर हैं। केरल की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ बहुत से छोटे-छोटे शहर हैं जिनका जनसंख्या घनत्व बहुत ज्यादा है। 2001 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 31,841,374 है और इस आधार पर यह भारत का बारहवाँ राज्य है जहाँ भारत की कुल जनसंख्या के 3.44 प्रतिशत लोग रहते हैं। यहाँ का जनसंख्या घनत्व 819 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। इसमें महिलाएँ 51.42 प्रतिशत और पुरुष 48.58 प्रतिशत हैं। 2001 के आंकड़ों के अनुसार यहाँ की साक्षरता दर 94.59 प्रतिशत है। आधिकारिक भाषा मलयालम है। राज्य में 590 किलोमीटर लम्बा समुद्री तटीय क्षेत्र है। केरल से लोकसभा के कुल 20 और राज्यसभा के 9 सदस्य चुने जाते हैं। यहाँ की विधायिका एक सदनीय है। इसमें कुल 141 सदस्य हैं जिनमें एक सदस्य मनोनीत किया जाता है और बाकी सदस्य चुनकर आते हैं। केरल की जनसंख्या में 57 प्रतिशत हिन्दू, 27 प्रतिशत मुसलमान एवं 19 प्रतिशत ईसाई हैं। मालाबार क्षेत्र में मुसलमानों की ताकतवर उपस्थिति है, विशेष रूप से मालापुरम, कालीकट, कन्नूर और कासरगोड जिलों में। इसी प्रकार मध्य ट्रावनकोर पट्टी मालाबार के पहाड़ी क्षेत्रों (जहाँ आदिवासी काफ़ी रहते हैं) में ईसाइयों का सीमित संकेंद्रण है। हिन्दू जातियों में एज़वा 22 प्रतिशत, नायर 15 प्रतिशत, ब्राह्मण दो प्रतिशत, अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ नौ प्रतिशत के आस-पास हैं।

केरल देश का पहला राज्य था जिसकी राजनीति ने शुरू से ही कांग्रेस को ठुकरा दिया था। 1952 में जब केरल ट्रावनकोर-कोचीन राज्य के रूप में था, वहाँ कांग्रेस हार गयी थी। 1952, 1954 एवं 1957 के विधानसभा चुनावों और 1952 एवं 1957 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी हाशिये पर रही। 1960 में विधानसभा में मध्यावधि चुनाव के समय प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और मुसलिम लीग से 'तितरफ़ा गठबंधन' बनाकर कांग्रेस इस प्रवृत्ति को अस्थायी रूप से रोकने में सफल रही। लेकिन यह गठजोड़ जल्दी ही टूट गया और साठ के दशक में ग़ैर-कांग्रेसवाद का उभार हुआ, जिसने कांग्रेस पार्टी की हार का रास्ता खोल दिया। 1965 और 1967 के चुनावी अनुभवों ने कांग्रेस नेतृत्व की आँखें खोलने का काम किया। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) की ग़ैर-कांग्रेसी गठजोड़ क्रायम करने की क्षमता का जवाब कांग्रेस ने सत्तर के दशक में दिया। इसने माकपा विरोधी ताकतों को एकजुट किया। इस कारण 1970 और 1977 (विधानसभा) एवं 1971 और 1977 (लोकसभा) के चुनावों में कांग्रेस की नेतृत्व वाले गठबंधन को शानदार जीत मिली।

केरल में दोनों गठबंधनों के बीच सत्ता की अदला-बदली होती रही है। 1990 के बाद हुए विधानसभा चुनावों पर नज़र डालें तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। 1991 में यूडीएफ़ की सरकार बनी। 1996 में एलडीएफ़ ने वापसी की। 2001 के विधानसभा चुनावों में यूडीएफ़ ने जीत दर्ज की और फिर 2007 के चुनावों एलडीएफ़ ने जीत मिली। 2012 में यूडीएफ़ ने बाजी मारी। 2004 के चुनावों को छोड़ दें तो अमूमन लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठजोड़ की स्थिति मज़बूत रहती है। मसलन, 2009 के लोकसभा चुनावों में भी कांग्रेस के नेतृत्व वाले यूडीएफ़ को शानदार जीत मिली।

केरल में केवल दो एक दलीय सरकारें बनीं— पहली बार पहले आम चुनावों के बाद अविभाजित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार (1957-59) और दूसरी कांग्रेस पार्टी की सरकार (1962-64)। अलग-अलग कारणों से इनमें से कोई भी सरकार अपना कार्यकाल पूरा न कर सकी। कुल 18 गठबंधन सरकारों में से 13 सरकारों का भी यही हाल रहा। इस प्रकार केरल अपनी राजनीतिक अस्थिरता के लिए जाना जाने लगा। जब तक राज्य को द्वि-ध्रुवीय राजनीति नहीं मिली, तब तक उसे राजनीतिक स्थिरता नसीब नहीं हो सकी। दिलचस्प बात यह है कि अल्पसंख्यकों की धार्मिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी के बावजूद हिंदुत्व की विचारधारा ने केरल पर कोई असर नहीं डाला। नब्बे के दशक में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने अपनी स्थिति मज़बूत करने की कोशिश की। बाबरी मसजिद के विध्वंस के बाद इण्डियन मुसलिम लीग में हुए विभाजन और पीपुल्स

डेमोक्रेटिक पार्टी (पीडीएफ़) के निर्माण ने मुसलमान-वोट गोलबंद करने की कोशिशों को आगे बढ़ाया। लेकिन, ये दोनों ही प्रयास विफल रहे। 'पहले मारे सो मीर' वाली चुनाव-प्रणाली पर छापी हुई द्वि-ध्रुवीय प्रतियोगिता पर कोई असर नहीं पड़ा। भाजपा को अच्छे मत मिले, पर वह एक भी सीट नहीं जीत पायी। उसे केरल की दलीय प्रणाली पर हाशिये पर ही रहना पड़ा।

केरल के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ का सामाजिक और शैक्षिक विकास बेहद शानदार रहा है। यहाँ उद्योगीकरण या आर्थिक विकास का रेकार्ड उतना खास नहीं है, लेकिन शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि वितरण के संबंध में इसका प्रदर्शन इस बात का पुख्ता सबूत है कि सच्चा विकास आर्थिक पहलुओं से ज्यादा सामाजिक और मानवीय पहलुओं से जुड़ा रहता है। केरल के सभी शहरों और गाँवों में विद्युतीकरण पूरा हो चुका है। नैशनल सैम्पल सर्वे के अनुसार यहाँ की सिर्फ़ 12.5 प्रतिशत जनसंख्या ही गरीबी की रेखा के नीचे है। राज्य के इस विकास में राज्य की दो गठबंधनों वाले मॉडल की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूदिरिपाद, ओडीशा, कर्नाटक, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, बिहार, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, वाम मोर्चा, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. जी. गोपाकुमार (2009), 'केरल : दो गठजोड़ों की स्थिर चुनावी होड़' (अनुवाद : कमल नयन चौबे), संकलित, अरविंद मोहन (सम्पा.), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, वाणी प्रकाशन, लोकनीति-सीएसडीएस.
2. आर. रामकृष्णन नायर (1973), *सोशल स्ट्रक्चर ऐंड पॉलिटिकल डिवलपमेंट इन केरला*, केरला ऐकेडमी ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस, तिरुवनंतपुरम.
3. ए. बालकृष्णन नायर (1992), *गवर्नमेंट ऐंड पॉलिटिक्स इन केरला*, इंदिरा पब्लिकेशन, तिरुवनंतपुरम.

— कमल नयन चौबे

केशवराव बलिराम हेडगेवार

(Keshavrav Baliram Hedgewar)

केशवराव बलिराम हेडगेवार (1889-1940) बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदुत्ववादी राजनीति की प्रमुख हस्ती थे। हिंदू राष्ट्रवाद को अखिल भारतीय स्तर पर सांगठनिक रूप देने के लिए उन्होंने 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। मुख्यतः सावरकर और एक हद तक विवेकानंद और अरविंद के विचारों से प्रभावित डॉ. हेडगेवार की वैचारिक और सांगठनिक कल्पनाशीलता के आधार पर ही भारतीय राजनीति की सबसे मजबूत दक्षिणपंथी हिस्से की रचना हुई है। हेडगेवार की शिखरयुत बुद्धिजीवी राजनेताओं की नहीं थी। उन्होंने अपने पीछे कोई विद्वत्तापूर्ण कृति नहीं छोड़ी। पर उनमें अपने लक्ष्यों को स्पष्ट रूप से समझाने, उन्हें जमीन पर उतारने, संगठन करने और निष्ठापूर्वक अपने अभियान में लगे रहने की अनूठी क्षमता थी। हेडगेवार को पक्का यक्रीन था कि हिंदू-समाज के चरित्र में एक ऐसी अंतर्निहित खामी है जिसके कारण वह अतीत और वर्तमान में 'विदेशियों' द्वारा थोपी गयी अधीनता और उत्पीड़न और आपसी फूट का मुकाबला कर पाने में हमेशा नाकाम रहता है। वे यह भी मानते थे कि हिंदू-चरित्र की यह कमी एक सांस्कृतिक संगठन के झंडे तले सभी हिंदुओं को एकजुट करके उनके भीतर राष्ट्रीयता और अनुशासन की भावना पैदा करने से दूर होगी। अपने मुट्ठी-भर साथियों के सहयोग से नागपुर में स्थापित किये गये संगठन को हिंदू-एकता के स्वप्न का वाहक बना देने की योजना उनकी इन्हीं खूबियों का परिणाम था।

हेडगेवार के जीवनीकारों के अनुसार उनका जन्म एक अप्रैल, 1889 को एक वेदपाठी तेलुगु ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही 'मुसलमानों के अत्याचारों' से बचने के लिए नागपुर में रहने लगे इस परिवार को उस समय बुरे दिन देखने पड़े जब वहाँ के भोंसले राजपरिवार की सत्ता 1853 में अंग्रेजों ने हड़प ली। अंग्रेजों के राज में बहुत से ब्राह्मणों ने सरकारी नौकरियों का लाभ उठाया, पर हेडगेवार परिवार पौरोहित्य के पेशे से ही जुड़ा रहा। लेकिन, बालक केशवराव ने जब वेद पढ़ने में दिलचस्पी नहीं दिखाई तो उन्हें आधुनिक शिक्षा दिलाने के लिए स्कूल में भर्ती कराया गया। उन दिनों नागपुर में सक्रिय राष्ट्रवादी हल्कों ने जल्दी ही युवा केशव को अपनी ओर खींच लिया। वहीं उनकी भेंट हिंदू राष्ट्रवादी नेता और संगठक डॉ. बालकृष्ण शिवराम मुंजे से हुई जो हाल ही में दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध से लौटे थे। मुंजे ने ही केशवराव को डॉक्टरी पढ़ने के लिए कोलकाता के मेडिकल कॉलेज भेजा जहाँ वे क्रांतिकारी अनुशीलन समिति से जुड़े और रामकृष्ण मिशन के सम्पर्क में आये।

इन्हीं सम्पर्कों के आधार पर हेडगेवार के राजनीतिक सोच-विचार की भित्ति खड़ी हुई। उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में सक्रिय उन तत्त्वों के प्रभाव में हुई जो कांग्रेस की राजनीति में खुद को बालगंगाधर तिलक का अनुयायी मानते थे और जिन पर बंगाल की अनुशीलन समिति के क्रांतिकारी कार्यक्रम का प्रभाव था।

संघ के संस्थापक का प्रोजेक्ट उनकी मृत्यु के पचास साल बाद नब्बे के दशक में उस समय शिखर पर पहुँचा जब संघ परिवार की राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी कांग्रेस को अपदस्थ करके केंद्र में सत्तारूढ़ हुई। हेडगेवार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाएँ इस समय पूरे देश में फैली हुई हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में (शिक्षा और आदिवासियों के बीच विशेष रूप से) उससे जुड़े हुए संगठन सक्रिय हैं। आजाद भारत में हुई सबसे बड़ी राजनीतिक गोलबंदियों में से एक रामजन्मभूमि आंदोलन के शिखर पर भी संघ परिवार का संगठन विश्व हिंदू परिषद् ही था। हेडगेवार के आलोचक उनकी विरासत को अल्पसंख्यक विरोधी और साम्प्रदायिक क्रार देते हैं, जबकि हेडगेवार के अनुयायियों ने उनकी शिक्षाओं के आधार पर हिंदू बहुसंख्यकवाद की राजनीति का विकास किया है। यह राजनीति संसदीय लोकतंत्र के दायरे में काम करते हुए अल्पसंख्यक समुदायों को अलगाव में डालते हुए उन्हें बहुसंख्यक समाज के मातहत की स्थिति में लाना चाहती है।

1916 में कोलकाता से डॉक्टरी पढ़ कर लौटने पर युवा हेडगेवार नागपुर के उन अखाड़ों से जुड़ गये जिनके जरिये युवा क्रांतिकारियों को कड़ी परीक्षा लेने के बाद अंग्रेज विरोधी कार्रवाइयों के लिए तैयार किया जाता था। हेडगेवार का खयाल था कि वे छत्रपति शिवाजी और समर्थ गुरु रामदास की तस्वीरों के सामने खड़े हो कर त्याग-बलिदान की शपथ लेने वाले नौजवानों की मदद से ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह आयोजित कर सकते हैं। इसी मकसद से उन्होंने कुछ हथियार जमा करने की कोशिश भी की। सरकारी पेशबंदी के कारण नाकाम हो जाने और विद्रोह की कोशिशों के प्रति आम लोगों के ठंडे रवैये से निराश हो कर उन्होंने कांग्रेस की राजनीति में तिलकपंथियों का साथ देने का फैसला किया। कांग्रेस के साप्ताहिक अखबार *संकल्प* के प्रसार-प्रचार के लिए हेडगेवार ने कई महीनों तक मध्य भारत के विभिन्न इलाकों की यात्राएँ कीं। इस दौरान उन्हें व्यापक राजनीतिक सम्पर्क बनाने का मौका मिला। कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के लिए बारह सौ स्वयंसेवक जुटाने में हेडगेवार ने भारत स्वयंसेवक मण्डल के मुखिया डॉ. लक्ष्मण वी. परांजपे की मदद की। उन्हें मध्य प्रांत में असहयोग आंदोलन के दौरान जनसभाएँ आयोजित करने की जिम्मेदारी भी दी गयी।



केशवराव बलिराम हेडगेवार (1889-1940)

अन्य तिलकपंथियों की भाँति हेडगेवार को भी लगता था कि गाँधी ख़िलाफ़त आंदोलन को कुछ ज़्यादा ही तरजीह दे रहे हैं। नागपुर अधिवेशन में गोरक्षा को कांग्रेस की कार्यसूची में शामिल न करने से भी वे आहत हुए। पिछले अगस्त में तिलक का देहांत हो चुका था और तिलकपंथी गाँधी का विरोध करने की स्थिति में नहीं थे। हेडगेवार ने पूरे महाराष्ट्र में कई भाषण दिये और क्रान्त तोड़ कर गिरफ्तारी दी। 14 अगस्त, 1921 को उन्हें एक वर्ष के कठोर कारावास की सज़ा सुनायी गयी। जुलाई, 1922 में रिहा होने के बाद हेडगेवार ने कांग्रेस के स्वयंसेवक संगठन की तितर-बितर हालत देखी और इस नतीजे पर पहुँचे कि अनुशासन के बिना देशभक्त युवक विदेशियों को खदेड़ने के लक्ष्य में सफल नहीं हो सकते। साथ ही उन्हें अहिंसक राजनीतिक कार्यक्रम का औचित्य भी समझ में नहीं आया क्योंकि उनकी समझ से ऐसा कोई प्रोग्राम उनकी समझ से युवकों का प्रेरणा-स्रोत नहीं बन सकता था।

इसी दौरान मध्य प्रांत की कांग्रेस कमेटी के संयुक्त मंत्री के तौर पर काम करते हुए हेडगेवार को कांग्रेस नेताओं

में निष्ठा की कमी से भी काफ़ी क्षोभ हुआ। कांग्रेस के भीतर उन्होंने विधान परिषदों में भागीदारी करने वालों का साथ दिया, हालाँकि उनके कई साथी मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व वाली स्वराज पार्टी में चले गये। हेडगेवार को धीरे-धीरे यक्रीन होता जा रहा था कि जब तक राष्ट्र के इतिहास और परम्पराओं पर आधारित समर्पित कार्यकर्ताओं का संगठन नहीं बनाया जाएगा, तब तक राष्ट्रीय जीर्णोद्धार की बुनियादी शर्त पूरी नहीं होगी। 1922-24 के दौरान उन्होंने नागपुर में ऐसा संगठन बनाने के लिए कई नेताओं के साथ बैठकें कीं। 1924 में वे वर्धा स्थित आश्रम भी गये और कांग्रेस की नीतियों पर चर्चा करते हुए गाँधी से कहा कि ख़िलाफ़त आंदोलन का समर्थन करके उन्होंने मुसलमान समुदाय में अलगाववाद की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। वर्धा से लौट कर हेडगेवार ने परस्पर शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों में उलझे रहने वाले हिंदू संगठनों को एक मंच पर लाने के बारे में सोचना शुरू किया।

20 अगस्त, 1923 को बनारस में हिंदू महासभा का सम्मेलन हुआ जिसमें कई हिंदू संगठनों और कांग्रेस के अहम नेताओं ने शिरकत की। इसमें मदन मोहन मालवीय ने प्रस्ताव रखा कि सभी हिंदू लड़के-लड़कियों को शिक्षित करने, अखाड़े स्थापित करने और महासभा के फ़ैसलों को मनवाने के लिए हिंदुओं को समझाने-बुझाने हेतु स्वयंसेवकों का संगठन बनाने का कार्यक्रम शुरू किया जाए। मालवीय ने इसमें अछूतों को मंदिरों में प्रवेश करने देना, कुओं से पानी लेने देना और शिक्षित करना भी जोड़ा। हेडगेवार को ये सभी प्रस्ताव ठीक लगे। अक्टूबर, 1923 में मसजिदों के सामने गाजे-बाजे के साथ जुलूस निकालने के मसले पर नागपुर में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनाव हो गया। प्रशासन ने हिंदुओं के जुलूस पर प्रतिबंध लगा दिया। हेडगेवार ने हिंदू नेता के रूप में उस पाबंदी का उल्लंघन किया। शहर में दंगे फूट पड़े। उसी दौरान हेडगेवार ने सावरकर की कृति *हिंदुत्व: हू इज़ अ हिंदू?* पढ़ी जिसका उनके ऊपर गहरा असर पड़ा। मार्च, 1925 में वे सावरकर से सलाह लेने गये और दो दिन तक उनके साथ रहे। इसी के बाद दशहरे के दिन उन्होंने नागपुर के एक छोटे से मैदान में अपने कुछ साथियों के साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का गठन किया जिसका झंडा शिवाजी का भगवा ध्वज था और जिसके सदस्यों की वर्दी नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के स्वयंसेवकों जैसी ही थी : खाकी कमीज़, खाकी निक्कर, काली टोपी, लम्बे मोजे और बूट। इस दौरान मुंजे और उनके साथी स्वराज पार्टी की राजनीति में उलझे हुए थे।

शुरू में संघ की गतिविधियाँ काफ़ी सीमित क्रिस्म की थीं। हेडगेवार ने ख़ूब सोच-समझ कर अनुशासन का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए पहला बड़ा कार्यक्रम चुना। अप्रैल,

1926 में वे रामटेक गाँव में लगने वाले रामनवमी के मेले में अपने वर्दीधारी स्वयंसेवकों के साथ गये और गुरु रामदास के भजन गाते हुए तीर्थयात्रियों की सेवा में जुट गये। उन्होंने दर्शनार्थियों की लाइनें लगवायीं, उन्हें पानी पिलाया और संदिग्ध मुसमलान फ़क़ीरों और ब्राह्मण साधुओं को रोका ताकि वे गाँववालों से पैसे न वसूल सकें।

संघ में भर्ती के इच्छुक लोगों को उन दिनों दो अच्छे स्वयंसेवकों से संस्तुति करवानी पड़ती थी। फिर हेडगेवार स्वयं उनकी तर्कशक्ति की गहरी परीक्षा लेते थे। इस तरह स्वयंसेवकों की पहली खेप तैयार हुई जो निजी तौर पर हेडगेवार के साथ निकट से जुड़ी हुई थी। 1927 से इस संगठन का विकास अपने नागपुर-वर्धा आधार के बाहर होना शुरू हुआ। हेडगेवार ने संघ को एक कुटुम्ब के तौर पर कल्पित किया जिसमें खुद उनकी भूमिका पारम्परिक गुरु सरीखी या पितृतुल्य नेता जैसी रही। वे हमेशा स्वयंसेवकों को पढ़ाई-लिखाई में मन लगाने और समाज में अच्छी हैसियत हासिल करने का सुझाव देते ताकि संघ और हिंदू समाज दोनों को लाभ हो सके। हेडगेवार ने शाखाओं में नियमित होने वाली व्यायाम की गतिविधियों के साथ-साथ मंगल और गुरुवार को स्वयंसेवकों की विचारधारात्मक शिक्षा के लिए राजनीतिक कक्षा का प्रावधान किया जिसे बाद में 'बौद्धिक' कहा जाने लगा। 1929 में संघ के नेताओं की बैठक में हेडगेवार ने तय किया कि संगठन का एक सर्वोच्च नेता होना चाहिए जिसे सरसंघचालक कहा जाएगा जिसकी आज्ञा बिना किसी हीले-हवाले के सभी को माननी होगी। उन्होंने सरकार्यवाह (महामंत्री) और सेनापति के दो मुख्य पद और बनाये।

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि संघ का संचालन करते हुए भी हेडगेवार कांग्रेस की राजनीति से दूर नहीं हुए। 1928 में भी उनके पास मध्य प्रांत की कांग्रेस कार्यकारिणी की सदस्यता थी। संघ में उनके सहयोगी अप्पाजी जोशी उसके मंत्री थे। हेडगेवार ने 1928 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भी हिस्सा लिया। 1930 के सत्याग्रह के दौरान वन क्रान्तु तोड़ कर गिरफ्तारी देने के कारण उन्हें नौ महीने की जेल हुई। कारागार में उनकी महाराष्ट्र के कई हिस्सों से आये सत्याग्रहियों से मुलाकात हुई जिन्हें अपनी विचारधारा में दीक्षित करने में उन्हें कामयाबी मिली। जून, 1934 तक कांग्रेस ने अपने कार्यकर्ताओं को संघ की गतिविधियों में भाग लेने पर पाबंदी नहीं लगायी थी।

तीस के दशक में हेडगेवार ने छात्र प्रचारकों के जरिये हिंदी भाषी इलाकों में संघ के काम का प्रसार करने की रणनीति अपनायी। छात्र प्रचारक विश्वविद्यालयों में जाते, नये छात्रों को स्वयंसेवक बनाते, शाखाएँ खोलते और इसी प्रक्रिया में विश्वविद्यालय के अध्यापक भी संगठन की ओर आकर्षित

होते। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में जीवविज्ञान का अध्यापन करने वाले माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर से उनकी भेंट इसी प्रक्रिया में हुई। हेडगेवार अपने नये शिष्य को धीरे-धीरे संघ की गुरुतर जिम्मेदारियाँ देते गये। 21 जून, 1940 को लम्बी बीमारी से उनका देहांत हो गया, लेकिन मृत्यु से ठीक पहले उन्होंने गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

देखें : अरविंद घोष, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, बाल गंगाधर तिलक, फ़ासीवाद, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, नव-दक्षिणपंथ, राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. नारायण हरी पालकर (1964), डॉ. के.बी. हेडगेवार, अनु. मृणालिनी धावले, पुणे.
2. राकेश सिन्हा (2003), केशव बलिराम हेडगेवार, पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली.
3. वाल्टर ऐंडरसन (1972), 'द राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : अर्ली कंसर्न्स', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 7, अंक 11.
4. वाल्टर के. ऐंडरसन और श्रीधर डी. दामले (1987), द ब्रदरहुड इन सैफ़न : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐंड हिंदू रिवाइवलिज्म, विस्तार पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.
5. जे.ए. कुरन जू. (1951), मिलीटेंट हिंदूइज्म इन इण्डियन पॉलिटिक्स : अ स्टडी ऑफ आरएसएस, इंस्टीट्यूट ऑफ़ पेसिफ़िक रिलेशंस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्की

(Konstantin Sergeyevich Stanislavski)

एक अभिनेता अपना काम कैसे करे? वह स्वयं को कैसे अनुप्रेरित करे? अपनी उच्चतर रचनात्मक अवस्था को अपनी मर्जी से कैसे हासिल करे? अगर एक जीनियस सहज रूप से अपनी रचनात्मकता को उसकी सम्पूर्णता में हासिल करता सकता है, तो निश्चित रूप से कहीं कठोर अध्यवसाय का ऐसा रास्ता भी होगा जो एक आम आदमी को भी उस अवस्था तक पहुँचा सकता हो। महान रंगकर्मी और अभिनय के आचार्य कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्की (1863-1938) की मूल चिंता का केंद्र यही था। वे अभिनेता के लिए सबसे प्राकृतिक, विकसित और वैज्ञानिक अभिनय-सिद्धांत

की तलाश कर रहे थे जो बदले हुए परिवेश, परिस्थिति में दर्शकों की उपस्थिति से प्रभावित हुए बिना सत्य का निर्बाध निरूपण कर सके। उन्होंने मनोविज्ञान को केंद्र में रखकर रंगमंच को वैज्ञानिक रूप, सुनिश्चित आकार और तर्कसंगत पद्धति देने का प्रयास किया। स्तानिस्लाव्की ने अभिनय की जटिल कला को व्यवस्थित सैद्धांतिक रूप दिया। अभिनय को वैज्ञानिक कला मानते हुए वे अभिनेता को अनुशासित रहने को कहते हैं जो शारीरिक और मानसिक तैयारी से ही सम्भव है। इस तैयारी में अवचेतन महत्वपूर्ण है जिसकी सक्रियता अभिनय को जीवंत करती है। स्तानिस्लाव्की के मेथड ने वैश्विक पैमाने पर अभिनेताओं को प्रेरित करके यथार्थवाद को मंच पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अभिनेता को चरित्र की त्वचा के भीतर उतर कर अपने स्व को चरित्र के स्व में एकमेक करने के लिए कहा। नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का प्रभाव उनके मेथड पर देखा जा सकता है। कालांतर में बर्तोल्त ब्रेख्त ने उनके सिद्धांतों से अलग सिद्धांत विकसित किये जिसमें अभिनेता के चरित्र हो जाने का प्रतिवाद करते हुए प्रदर्शक रूप पर बल दिया गया। लेकिन स्तानिस्लाव्की के मेथड का प्रभाव आज भी है। स्तानिस्लाव्की के परवर्ती सिद्धांतकार ग्रोतोवस्की ने उन्हें एक ऐसे संत की संज्ञा दी है जो जीवन भर एक कठिन कर्म को सहज बनाने में लगा रहा।

स्तानिस्लाव्की के समय में नयी दुनिया मनुष्य और समाज को समझने के लिए नवीन विवेक की माँग कर रही थी। मानव मन की गुत्थियों को समझने के लिए नये विज्ञान रचे जा रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी का यथार्थ जटिलतर होता जा रहा था। साहित्य के नये पुरोधे इस जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए नवीन शैली और शिल्प को लेकर आ रहे थे। स्वयं रूस में गोगोल, ओस्ट्रोवस्की, शेपकिन और तॉल्स्टॉय इस नवीन यथार्थवाद को शास्त्रीय स्तर पर ले जा चुके थे। नाटक के क्षेत्र में भी यह यथार्थवाद अपनी अभिव्यक्ति कर रहा था। स्ट्रिडबर्ग, इब्सन और शॉ अपने नाटकों के ज़रिये ऐसी धारा सामने ला चुके थे। रूस में एंटन चेखव जैसे कहानीकार का आविर्भाव हो चुका था जो अपनी नवीन प्रकृतवादी शैली में नाटक भी रच रहे थे। समय की माँग थी कि अभिनेता भी मंच पर पहले से बने-बनाये ढाँचे में हँसना-रोना छोड़ कर और समाज को उसके सच्चे, सूक्ष्म और अतरंग विवरण के साथ पेश करे।

चालीस साल से अधिक लम्बे निरंतर चिंतन एवं प्रयोगों से स्तानिस्लाव्की ने वह सिद्धांत विकसित किया जिसके केंद्र में अभिनेता था। इसे 'मेथड' या 'सिस्टम' कहा जाता है। अपने विचारों को उन्होंने अपने किताबों में संकलित किया। मास्को आर्ट थियेटर इन सिद्धांतों की प्रयोगशाला था।

स्तानिस्लाव्की द्वारा विकसित सिद्धांतों में शारीरिक क्रियाओं का सिद्धांत भी है जिसका संबंध मंच पर स्वतःस्फूर्त

व्यवहार की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की मनोवैज्ञानिक कोशिश से है। मनोवैज्ञानिक अनुभव और उनकी शारीरिक अभिव्यक्ति के बीच अटूट रिश्ता है। मनुष्य की आत्मा और शरीर के तत्त्व अविभाज्य हैं। बिना बाह्य शारीरिक प्रदर्शन के आंतरिक अनुभव सम्भव नहीं और अनुभवों के आदान-प्रदान में हमारा शरीर ही माध्यम बनता है। केवल शरीर से ही चरित्र का निर्माण करना सम्भव नहीं। अगर कोई अभिनेता मनोविज्ञान की अवहेलना करके शारीरिक हाव-भाव के सहारे अभिनय करता है, तो वह यांत्रिकता का शिकार होता है। यहाँ विचार और अनुभव का सम्प्रेषण नहीं हो पाता और किसी भी व्यक्ति को इनके बिना समझना सम्भव नहीं। मंच पर स्वाभाविक आचरण के लिए अभिनेता को मंच पर हो रही प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया को मनोवैज्ञानिक-शारीरिक रूप से समझने में समर्थ होना चाहिए।

स्तानिस्लाव्की के मुताबिक मंच पर वास्तविक कुछ भी घटित नहीं होता, किंतु भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए वास्तविक कारण चाहिए। वास्तविक जीवन में व्यक्ति किसी न किसी वजह से अक्सर वास्तविक अनुभव की अनुभूति से बचता रहता है, लेकिन मंच पर वास्तविक अनुभव को अभिव्यक्त करना महत्वपूर्ण है। वास्तविक शारीरिक क्रिया की तलाश से ही अभिनेता मनोवैज्ञानिक-शारीरिक सहभागिता को हासिल कर सकता है। चरित्र की यह क्रिया ही तर्क का निर्माण करती है। यह प्रक्रिया मानवीय प्रक्रिया से अलग है। वास्तविक जीवन में हम भावना को पहले महसूस करते हैं फिर व्यक्त करते हैं। स्तानिस्लाव्की के अनुसार एक अभिनेता भावना के अनुभव को शारीरिक क्रिया द्वारा प्राप्त करता है। शब्दों की एक सीमा होती है इसलिए अभिनेता को मंच पर शरीर से भी अभिव्यक्ति करना चाहिए, आंतरिक मोनोलॉग व अन्य मानसिक प्रक्रिया का निर्वाह प्रवाह अभिनय की ज़रूरी शर्तें हैं। मंच पर अभिनेता को सचमुच देखना, सुनना, समझना, अनुभव करना, बात करना चाहिए। एक अभिनेता का दिमाग, उसकी इच्छाशक्ति और उसकी भावना, जो कि मानवीय जीवन के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को नियंत्रित करती है, को मंच पर जीवंत मानवीय चित्रण के लिए अवश्य शामिल होना चाहिए।

स्तानिस्लाव्की के अनुसार अभिनय के अवयव इस प्रकार हैं : 'यदि' का जादू : यदि चरित्र की जगह मैं होता। 'यदि' अभिनेता की कल्पना, सोच और तार्किक अभिनय के लिए एक सम्भावना और शक्तिशाली उत्प्रेरक है। यह अभिनेता को काल्पनिक परिस्थिति में ले जाने में मदद करता है। यह चरित्र के लक्ष्य को अभिनेता के लक्ष्य में बदल देता है। प्रदत्त परिस्थितियाँ : चरित्र क्या, कब, क्यों, कैसे करता है इसके लिए परिस्थितियाँ भी ज़िम्मेदार होती हैं। नाटक में

प्रदत्त परिस्थितियों में होने वाली क्रिया के द्वारा ही चरित्र का निर्माण होता है। नाटक का विषय, काल, समय, स्थान, अवस्था, निर्देशक-अभिनेता की व्याख्या, मंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, ध्वनि-प्रभाव भी चरित्र के निर्माण में सहायक होते हैं। कल्पना : नाटक कल्पना के सहारे ही फलीभूत होता है। कल्पना स्पष्ट, ठोस, क्रमिक, सत्यपरक और तार्किक होना चाहिए। किसी भी नाटककार की पंक्तियाँ तब तक जीवंत नहीं हो सकती जब तक अभिनेता अपनी कल्पना से उसकी व्याख्या कर उसका सही अर्थ यानी उसके पीछे की सोच को अभिव्यक्त नहीं करता। इससे सब-टेक्स्ट का निर्माण होता है। स्तानिस्लाव्की के अनुसार दर्शक सबटेक्स्ट को अनुभव करने के लिए ही रंगमंच में आते हैं। नाटक तो वे घर पर भी पढ़ सकते हैं। ध्यान का केंद्रीकरण : यह सृजनशीलता के लिए एक ज़रूरी तत्व है। यह भय-मुक्त, सहज आदि से इतर उस क्षण को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होता है जिसे निजी क्षण कहते हैं। एक अभिनेता को अपना ध्यान मंच पर केंद्रित करना चाहिए और ऐसा करते हुए उसे दर्शकों का भी ध्यान रखना ज़रूरी है। एक ठोस विचार, उसे व्यक्त करनेवाला शरीर और एक साकार शारीरिक क्रिया ही द्वारा अभिनेता अपना ध्यान मंच पर केंद्रित करता है। इसके लिए उसे नये ढंग से देखना, सुनना, सोचना, सीखना चाहिए। सत्य और विश्वास : नाटक में सब कुछ गढ़ा जाता है, जीवन और मंच का सत्य एक नहीं है। इसलिए विश्वास एक ज़रूरी तत्व है। अभिनेता अपने विश्वास और सच्चे व्यवहार के सहारे दर्शकों को विश्वास दिलवाता और दृश्यात्मक सत्यता को स्थापित करता है। सामूहिक सहभागिता : अभिनेता मंच पर घटित होनेवाली घटनाओं पर निर्भर करता है, जो अन्य चरित्रों के व्यवहार पर भी आश्रित होता है। इसे सामूहिक प्रयास और आपसी प्रभाव से ही सम्भव बनाया जा सकता है। इसके लिए उसे सहभागिता के सिद्धांतों को अपनाना एक अनिवार्य तत्व हो जाता है। रंगमंच एक सामूहिक कला है इसलिए बिना सामूहिक सहभागिता के किसी अच्छे लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव नहीं। अनुकूलन : लक्ष्य प्राप्ति में आनेवाली भौतिक अड़चनों को पार करना अनुकूलन कहलाता है। कोई भी चीज़ कैसे किया जाएगा इसका जवाब इस विधि से सम्भव है। यह सहयोगी के व्यवहार एवं अन्य अड़चनों पर भी निर्भर करता है। गति-ताल: हर क्षण, तथ्य, परिस्थिति, संवाद, घटना और चरित्र की अपनी एक आंतरिक और बाह्य गति-ताल होता है। अभिनय में विश्वसनीयता के लिए अभिनेता के अंदर इसकी समझ अत्यंत ही आवश्यक है। ताल को आंतरिक अनुभव और इसकी शारीरिक अभिव्यक्ति के बीच की कड़ी भी माना गया है। भावनात्मक स्मृति : अभिनय जीवन के अनुभव का काव्यात्मक प्रतिरूप है। अभिनेता अपनी भावनात्मक स्मृतियों के सहारे परिस्थिति को मंचीय स्वरूप प्रदान करता है लेकिन



कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्की (1863-1938)

मंचीय भावनाएँ और जीवन के भावनाओं में फ़र्क इसलिए है क्योंकि मंच पर इसकी उत्पत्ति का कारण वास्तविक नहीं होता है। इसे वास्तविक बनाने के लिए अभिनेता को अपनी भावनात्मक स्मृतियों का सहारा लेना पड़ता है। ये स्मृतियाँ अनुभवों को संजोकर संश्लेषित भी करती हैं। अभिनेता के पास अपनी भावनात्मक स्मृतियों को पुनर्जीवित एवं उसे मंचीय परिस्थिति में ढालने की क्षमता होनी चाहिए। इसके लिए एक अभिनेता अपनी आंतरिक ज़िंदगी और बाहरी दुनिया के निरीक्षण से सामग्री इकट्ठा करता है। इसलिए उसे हर वक़्त सजग रहना ज़रूरी है। विश्लेषण : नाटक को ठीक से विश्लेषित कर उसके सार को समझना और उसे तर्कपूर्ण रूप से व्यक्त करना अभिनेता के लिए एक ज़रूरी प्रक्रिया है। क्रिया : इसके लिए अभिनेता को नाटक, चरित्र, काल, नाटककार का उद्देश्य तथा दी गयी परिस्थितियों का तार्किक और सटीक विश्लेषण करना ज़रूरी है। सही चीज़ों का चयन ही भूमिका के लिए सही क्रिया का निर्धारण करता है। नाटक में हर चरित्र का अपना उद्देश्य होता है। मुख्य अभिप्राय और क्रियाएँ : महान नाटककारों के बिना रंगमंच सम्भव नहीं। रंगमंच का पहला कर्तव्य नाटककार के विचारों को दर्शकों तक कलात्मक तरीके से पहुँचाना है। यही अभिनय का अंतिम लक्ष्य है। एक लिखित नाटक अभिनेता-निर्देशक की

मदद से जीवंतता प्राप्त करता है। यह कार्य सुपर ऑब्जेक्टिव द्वारा ही सम्भव है, जो सृजनात्मक प्रक्रिया का आधारभूत उत्प्रेरक भी माना जाता है। प्रत्येक विवरण, सोच क्रिया इससे जुड़ी हुई है। इसके माध्यम से चरित्र की क्रियाओं के तर्क नियंत्रित होते हैं। इसलिए एक अभिनेता के मन में इसके पूरी तरह स्पष्ट होना चाहिए। ऐसा न होने पर मंच पर चरित्र के जीवन की निरंतरता बनाये रखना सम्भव नहीं। थ्रू लाइन ऑफ़ एक्शन : एक्शन का एक तार्किक ताना बना है जिसके तहत अभिनय को तर्क और संदर्भपूर्ण बनाने के लिए अभिनेता को दिमागी तौर पर अपनी भूमिका के अनुकूल दिशा की तलाश करनी होती है। थ्रू लाइन ऑफ़ एक्शन और सुपर ऑब्जेक्टिव वे लक्ष्य हैं जिनके मार्फ़त भूमिका का निर्माण होता है। इसका उद्देश्य भी नाटक के मुख्य उद्देश्य को व्यक्त करना होता है। नाटक में द्वंद्व का विकास में इसकी एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रत्येक पात्र का अपना एक मुख्य लक्ष्य होता है अपनी भूमिका के माध्यम से उसे प्राप्त करना ही उस चरित्र का सुपर ऑब्जेक्टिव और उसका थ्रू लाइन ऑफ़ एक्शन होता है। स्तानिस्लाव्स्की इसे मस्तिष्क के पुनर्जागरण की संज्ञा देते हैं। अभिनेता का शारीरिक तंत्र : चरित्र को जीवन्तता प्रदान करने के लिए अभिनेता का शरीर उसका माध्यम है। जिसे आंतरिक और शारीरिक रूप से साकार करने के लिए एक अभिनेता के पास संवेदनशील, प्रशिक्षित, अनुशासित, नियंत्रित एवं उत्तरदायी शारीरिक तंत्र होना चाहिए। इसके लिए निरंतर अभ्यासरत रहना एक अनिवार्य शर्त बन जाता है। भूमिका पर कार्य : अभिनेता अपनी अभिव्यक्ति मानवीय क्रिया और प्राकृतिक नियमों के माध्यम से करता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो शारीरिक पहलुओं, गतियों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। जो क्रिया चरित्र को व्यक्त करने में प्रभावी है उसे कलात्मक रूप से सही माना गया है। उद्देश्य का अर्थ होता है जीवन की अभिव्यक्ति। भूमिका के निर्माण के लिए क्रिया का चयन के लिए दक्षता की ज़रूरत पड़ती है। इसका चयन ही चरित्र के निर्माण का आधार है। इसके लिए चरित्र के संदर्भ में इन सवालों का जवाब तलाशना ज़रूरी है कि मैं कौन हूँ, यह क्रिया कहाँ, किसके साथ और किसलिए हो रही है। मंच पर चरित्र क्या और क्यों कर रहा है इसकी जानकारी के बिना चरित्र निर्माण सम्भव नहीं। ऐसा करने के लिए साझा मक़सद के इतर व्यक्तिगत और अनोखे तर्क का होना ज़रूरी है। क्योंकि सामूहिक सच के बीच

व्यक्ति का अपना भी सच होता है।

स्तानिस्लाव्स्की कहते हैं : अभिनेता की कला नाटक के क्रिया के तर्क को जानने और उन सबको क्रमवद्ध रूप से पिरोने की योग्यता है। इससे भूमिका का स्वरूप बनता है। अभिनेता को अपने वास्तविक जीवन और चरित्र के जीवन के स्वरूप के बीच अंतर करना भी आना चाहिए। चरित्र का व्यवहार क्रमिक, सरल, सत्य, सूक्ष्म, तार्किक व ठोस क्रियाओं से निर्मित होना चाहिए। मंच पर किसी क्रिया को सत्यतापूर्वक जीना जीवन जीने जैसा है। चरित्र के निर्माण में अभिनेता को नाटककार, निर्देशक तथा अन्य सहयोगी अभिनेताओं और चरित्रों द्वारा वर्णित संकेतों को भी आत्मसात करते हुए सोच, क्रिया, स्वरूप, अनुभव, आदत, आचार-विचार आदि को निरूपित करना चाहिए। इसमें अभिनेता की व्यक्तिगत विचार भी समाहित होना चाहिए। स्तानिस्लाव्स्की इसे अपने आप से शुरू करके चरित्र तक पहुँचाने की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। इस प्रक्रिया में यह सावधानी बरतने की आवश्यक है कि चरित्र पर अभिनेता के विचार थोपे न जा रहे हों। अभिनेता को चरित्र के हिसाब से अपने को ढालना चाहिए, अपने अनुसार चरित्र को नहीं। अभिनेता का स्वयं पर नियंत्रण एक अनिवार्य शर्त है।

देखें : आधुनिक रंगमंच, आधुनिक भारतीय रंगमंच-1 और 2, बर्तोल्त ब्रेख्त।

संदर्भ

1. कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्स्की (2002), *अभिनेता की तैयारी* (अनु. विश्वनाथ मिश्र), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.
2. कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्स्की (2002), *चरित्र की रचना-प्रक्रिया* (अनु. विश्वनाथ मिश्र), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.
3. कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्स्की (2001), *भूमिका की संरचना* (अनु. विश्वनाथ मिश्र), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.
4. श्रीकांत किशोर (2008), 'अवचेतन के मुहाने पर', देवेन्द्र राज अंकुर और महेश आनंद (सम्पा.), *रंगमंच के सिद्धांत*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अमितेश कुमार